पर्वाधिराज

के

पुनीत सन्देश

लेखिका : साध्वी मैना सुन्दरी

नाम पुस्तक '
पर्वाधिराज के पुनीत सन्देश

लेखिका :
साध्वी मैना सुन्दरी

सम्पादक
पारसमल (प्रसून)

प्रकाशक
सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल
बारह गणगौर का रास्ता
जयपुर-३

मूल्य
डेढ रुपया

द्रव्य-सहायक ·
जी पारसमलजी पदमचन्दजी जैन खींवेसरा
पदम निवास—तातेडो का बास
बिलाडा (जोधपुर) राजस्थान

मुद्रक .
राज प्रिंटिंग वर्क्स,
किशनपोल बाजार, जयपुर-१

प्रकाशकीय

प्रस्तुत पुस्तक आचार्य श्री १००८ श्री हस्तीमलजी मा० सा० की आज्ञानुवर्ती साध्वी मैना सुन्दरीजी की द्वितीय कृति है। आपकी प्रथम कृति दुर्लभ अग चतुष्टय एव प्रस्तुत नवीन कृति स्वाध्यायियो के लिए विशेष उपयोगी है। पर्युषण पर्व के ८ दिनो मे दिये जाने वाले प्रवचन इसमे सन्निहित हैं। लगभग २६ वर्षों से आचार्य श्री १००८ श्री हस्तीमलजी म० सा० के प्रेरणा रूप आशीर्वाद से स्वाध्याय सघ निरन्तर प्रगति पथ पर अग्रसित हैं। प्रतिवर्ष मुनिराजो से वचित क्षेत्रो मे पर्युषण के दिनो मे स्वाध्यायी श्रावको को भेजकर अन्तगड-सूत्र का वाचन तथा अन्य कार्यक्रम प्रस्तुत किये जाते हैं। प्रस्तुत पुस्तक पर्युषण मे व्याख्यान वाचना मे अत्यन्त उपयोगी रहेगी।

अन्त मे इस पुस्तक के प्रकाशन हेतु श्री जी० पारसमलजी खीवेसरा विलाडा निवासी ने १६००) रु० प्रदान किये हैं एतदर्थ धन्यवाद। आपके सतत् प्रयत्न एव सेवा के सुफल के कारण ही विलाडा मे साध्वी श्री मैना सुन्दरी मा० सा० का चातुर्मास धर्मध्यान व त्याग-तपस्या मे सम्पन्न हुआ है। श्री खीवेसराजी बडे ही भावना-शील, श्रद्धालु, सामाजिक कार्यों मे रुचि रखने वाले उदार सद् गृहस्थ हैं। आप स्वाध्याय प्रेमी है और पर्युषण पर्वाराधना कराकर समाज को लाभान्वित करते रहते हैं।

श्री पार्श्वकुमार जी मेहता को जिन्होने प्रस्तुत पुस्तक को शीघ्र प्रकाशित कराने हेतु भरसक प्रयास किया एव प्रूफ रीडिंग मे योगदान दिया, एतदर्थ हम मण्डल की ओर से आपके आभारी हैं।

डॉ० नरेन्द्र भानावत ने पुस्तक को आद्योपान्त पढ़कर मार्ग-दर्शन दिया एतदर्थ मैं मण्डल की ओर से उनका आभार प्रदर्शित

करता हूँ। पुस्तक चातुर्मास समाप्त होने के पूर्व ही प्रकाशित करनी पड रही है अतः प्रूफ रीडिंग मे त्रुटिया रह जाना स्वाभाविक है। पाठको से अनुरोध है कि वे हमे त्रुटियो का आभास कराये जिससे भविष्य मे ध्यान दिया जा सके।

इत्यलम्।

भवदानुरत
नथमल हीरावत
मन्त्री
श्री सम्यक् ज्ञान प्रचारक मण्डल
बारह गणगौर का रास्ता,
जयपुर-३

कार्तिक शुक्ला ८,
वीर स० २४९८

दान–दाता का परिचय

पारसमल

श्रीमान् पारसमलजी खिवसरा सुपुत्र श्री गुलाबचन्द जी खिवसरा बिलाडा निवासी एक उदारमना, धर्म रसिक सुश्रावक है।

व्यवहारिक शिक्ष मेट्रिक तक एक [illegible]

मे जीवन क्षेत्र मे प्रवेश किया। पर आप पर तो लक्ष्मी का वरद् हस्त हो गया।

अत अतिशीघ्र शिक्षण क्षेत्र से अलग हो मद्रास मे व्यवसायी वने। वहाँ लक्ष्मी की अच्छी कृपा हुई।

लाभ के साथ आपका लोभ नही वढा अतः जीवन मे धर्म के सस्कार दृढ बनते गये और आपने ३८ वर्ष की आयु मे ही मद्रास मे व्यापार से निवृत्ति लेली।

अभी आप विलाडे मे ही रहते है। जीवन मे जप तप नियम का सुन्दर क्रम है। इस वर्ष विलाडे मे महासति श्री सायरकुवरजी व विदुषी महासति श्री मैना सुन्दरीजी के चातुर्मास मे आपने १२ व्रत अङ्गीकार किये और आजन्म ब्रह्मचर्य व्रत लिया। आपके चार खधो मे से तीन खन्ध ब्रह्मचर्य, रात्रि भोजन त्याग एव अचित जल है। सारा दिन सामायिक आराधना, स्वाध्याय एव धर्म चिन्तन मे ही जाता है। सन्तो की सेवा व जिन शासन रसिकता आपके गुण है।

सुश्रावकजी दिल से वडे हैं। आप सम्पत्ति का सत्कार्यों मे सदा मुक्त हस्त से दान देते है। तप भी खूब करते हैं। अभी १५ की तपस्या की थी।

इस पुस्तक प्रकाशन का समस्त व्यय आपने वहन कर एक स्तुत्य कार्य किया है। सत् साहित्य प्रकाशन मे आपका यह योगदान प्रशसनीय है।

श्री जिनेश्वर देव से मङ्गल कामना है कि श्री पारसमलजी का सुन्दर जीवन सदा दान, शील, तप, भावना से सरल वना रहे।

पारसमल "प्रसून",

दो शब्द

सर्व प्रथम मै इस भव तथा परभव मे सुखदायक परम आराध्य पंच परमेष्ठी देव को वन्दन नमस्कार करता हूँ। मानव भव मिलना अति दुर्लभ है। ८४ लक्ष जीवायोनि मे यह जीव अनादि काल से भ्रमण करता हुआ, पुण्योदय से मनुष्य भव मिलता है। इसकी इच्छा देव भी करते हैं, देवलोक मे सर्व रिद्धि-सिद्धि उपलब्ध है परन्तु किये गये फल को ही अवधि तक भोगता है। भविष्य के लिये देव कुछ नहीं कर सकता है। मनुष्य भव ही ऐसा है, जिस भव से ही आत्मा सिद्ध-बुद्ध बन सकती है। मनुष्य भव मिल जाना ही श्रेष्ठ नही है। उसके साथ उच्च कुल, जाति धर्म गुरु मिलना महान कठिन है। पाचो इन्द्रियो का योग मिलना पुण्य का फल है।

हमे विचार करने की जरूरत है कि हमे उत्तम धर्म प्राप्त हुआ है। निर्ग्रन्थ गुरुओ के द्वारा जिनेश्वर वाणी का सुनने व जीवन को उन्नत करने का मौका मिला है। मनुष्य भव के साथ धन-दौलत, परिवार बन्धु आदि मिल जाना ही सर्वोपरि नही है। मानव आज अपने निज स्वरूप को भूल बैठा है। रात-दिन धन कमाने मे और अपने परिवार वन्धु की सेवा करने मे ही लगा रहता है। हमे सच्चा ज्ञान प्राप्त हुआ लेकिन मोह रूपी अन्धकार ने घेर रखा है। इच्छाओ का कभी अन्त हो नहीं सकता।

मनुष्य भव पाकर अगर व्यर्थ मे ही बिता दिया तो जन्मने मे कोई सार नही। हिंसा, झूठ, चोरी और परनिन्दा को पाप बताया गया है उसी तरह रात्रि भोजन को भी शास्त्रकारो ने तो महापाप बतलाया है। सभी धर्मो मे नरक का प्रथम द्वार भी कहा गया है। पक्षी भी रात को चुगते नही - संग्रह करते नही है। मनुष्य तो रात-दिन खाता रहता है। चौविहार पालने मे एक साल मे ३ महीने की तपस्या का फल होता हैं। ब्रह्मचर्य भी जीवन मे बहुत महत्त्व रखता है। एक दिन के भोग विलास से ९ लाख जीवों की क्षति होती है उसका भी पालन करना परम कर्त्तव्य है।

गाधी जयन्ति, कृष्णाष्टमी पर भिन्न-भिन्न स्थानो पर हुए। दया उपवास की पचरगी अठरगी, अखण्ड जाप, शान्तिनाथ भगवान् का भाईयो और बहिनो के अलग-अलग बडे हर्ष के साथ सम्पन्न हुवे।

पर्युषण पर्व के आठ दिनो याख्यानो को प्रकाशित कराने की मेरी भावना जगी। मुझे हर्ष है कि सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल के सौजन्य से मेरी भावना आज सफलीभूत होने जा रही है। सत् साहित्य के प्रकाशन से जीवन मे अनन्य महत्व है। किसी कवि ने कहा है कि—

अन्धकार है वहाँ जहाँ आदित्य नही है।
मुरदा है वह देश जहाँ साहित्य नही है।।

ऐसे सत् साहित्य का घर-घर मे प्रचार और प्रसार हमारा लक्ष्य होगा। स्वाध्याय की मशाल जलाने के लिये धार्मिक साहित्य का पठन-पाठन अति आवश्यक है।

मुझे आशा ही नही पूर्ण विश्वास है कि ज्ञान रसिक स्वधर्मी बन्धु इस आध्यात्मिक पुस्तिका का स्वागत् करेंगे और उसका समीचीन अध्ययन कर अपने जीवन को उन्नत बनायेगे। घर-घर मे जिनवाणी का प्रचार एव प्रसार सत् साहित्य के माध्यम से हो इसी भावना के साथ।

आपका स्वधर्मी बन्धु
शाह G पारसमल पदमराज खीवसरा
बिलाडा (राजस्थान)

संपादकीय

जैन सस्कृति का सदा उद्घोप रहा है—राग से विराग की ओर, भोग से त्याग की ओर, भुक्ति से मुक्ति की ओर। यहाँ शरीर-पोपण के स्थान पर आत्म-पोषण का लक्ष्य रहा है। त्याग, तप एव सयम का जितना सर्वांग सम्यक् समुज्जवल स्वरूप जैन धर्म ने विश्व को दिया वह वस्तुत. विरल है।

जैन सस्कृति के पर्व भी आध्यात्मिकता से आप्लावित रहते है। इन पर्वों मे अन्तर्मुखी दृष्टिकोण रहा है। वाह्य चमक-दमक, साज-सज्जा, आनन्द-उल्लास, रग-उमग से अलग-थलग रह ये पर्व आत्मिक उत्थान मे सहायक होते हैं।

प्रेम-शान्ति का सन्देशवाहक पर्वाधिराज पर्युषण, आध्यात्मिक पर्वों मे सर्वश्रेष्ठ है। सस्कृति का यह एक विशिष्ट पर्व है। यह आत्मोत्थान का एक सर्वोपरि अनुष्ठान है। इसे हम साधना-सप्ताह की सज्ञा दे सकते हैं, जबकि साधक सासारिक प्रवृत्तियो से कुछ अलग हो इस आत्मानन्द के सिन्धु मे डुबकियाँ लगाता है।

आज के भौतिक चकाचौंध के इस विषम विषैले विकृत वातावरण मे यह मगल धार्मिक पर्व अन्धकारो मे प्रकाश पुज के समान है। ऐसे लोकोत्तर परम पावन पर्व को मनाना हर भव्य भावुक का प्रथम कर्त्तव्य है।

आते है ये पर्व हमे कुछ याद दिलाने।
भूतकाल का एक नया सन्देश सुनाने॥

यह पर्व भी प्रति वर्ष अपने साथ एक सन्देश लेकर उपस्थित होता है। यह सन्देश है—आत्मिक, उत्क्रान्ति एव आध्यात्मिक जागृति का। आत्मा

क्रोधादि, कषाय एव कामादि विकारो के वशीभूत हो—स्वगुण से भटक गई है। हम अपने आत्मिक धन से विमुक्त हो रहे है। उन आत्म-गुणो की सम्प्राप्ति ही इस पर्वाराधना का सत् लक्ष्य है। 'परि' उपसर्ग पूर्वक 'वस्' निवासे धातु का अर्थ होता है, आत्मा के समीप मे रहना।

ज्ञान-दर्शनादि आत्म गुणो को भली भाति आराधना करने हेतु इस पर्व के प्रत्येक दिवस को एक विशेष आत्म गुण से सम्बन्धित करना समीचीन रहेगा। पर्युषण पर्व के इन आठ दिनो को ज्ञान-दर्शन आदि विशेष दिवसो के रूप मे मनाने की एक विशिष्ट योजना है।

प्रस्तुत पुस्तक मे परम श्रद्धेय बाल ब्रह्मचारी प्रात स्मरणीय पूज्य आचार्य प्रवर श्री १००८ श्री हस्तीमलजी महाराज सा. की आज्ञानुवर्ती सुशिष्या विदुषी मधुर व्याख्यानी महासतीजी श्री मैना सुन्दरीजी म सा ने पर्युषण पर्व के आठ दिनो के लिये विशिष्ट सन्देशो को आठ निबन्धो मे गूथा है।

महासती श्री मैना सुन्दरीजी म सा जैन जगत् की एक उदीयमाना विदुषी व्याख्यानी महासतीजी हैं। महासतीजी की वाणी मे ओज है। महासतीजी का धाराप्रवाहिक प्रवचन भव्य भक्तो के लिये प्रेरक होता है। लेखन-क्षेत्र मे भी महासतीजी ने अपने कदम बढाये है। महासतीजी का पहला प्रयास "दुर्लभ अग चतुष्टयम्" प्रकाशित हो चुका है। यह महासतीजी की दूसरी प्रकाशित रचना है।

महासतीजी की लेखन-शैली सरल एव सुबोध है, भाषा मे प्रवाह है, माधुर्य है एव हृदयहारिता है। अपने विषय-वस्तु को विभिन्न उदाहरणो, उद्धरणो से पुष्ट करते हुवे बडे सशक्त ढग से प्रस्तुत करती हैं।

पाठक, इस पुस्तक के माध्यम से महासतीजी की लेखन कला से परिचित हो सकेंगे।

मुझे प्रसन्नता है कि इस ग्रथ का सम्पादन करने का सौभाग्य मुझे मिला। मैं महासतीजी के बहुमूल्य विचारो को कहाँ तक सम्पादित कर सका हूँ, इसका निर्णय तो विज्ञ पाठक ही करेंगे।

पर्युषण पर्व मे सेवा देने वाले स्वाध्यायी बन्धु इन आठ दिनो मे जहाँ 'अन्तकृतान्दशाग सूत्र' का मगल वाचन करते हैं, वहा प्रति दिन एक विशिष्ट निर्धारित प्रसग पर भी अपने विचार व्यक्त करते है। उन उत्साही धर्मरसिक बन्धुओ के लिए तो यह पुस्तक काफी उपयोगी सिद्ध हो सकती है।

स्वाध्यायी बन्धु एवं भव्य भक्त इस छोटे से ग्रन्थ का सम्यक् अवलोकन कर रसास्वादन करेंगे तो सन्तोष होगा।

सुविज्ञ पाठको के प्रेरक सुझाव मुझे प्रोत्साहित करेंगे। ज्ञान, दर्शन, चारित्र की ओर हमारे कदम सदा बढते रहे, इसी मगल भावना के साथ—

—पारसमल 'प्रसून'

अनुक्रम

प्रथम दिवस

ज्ञान दिवस

मन भावन पावन पर्यु पण पर्व आरभ हो चुके है। आज का प्रथम दिवस ज्ञान दिवस है। ज्ञान ही सच्चा प्रकाश है। सम्यक् ज्ञान के अभाव मे सब व्यर्थ है। तो आइए, इस पर्व की साधना मे आज हम ज्ञान के प्रकाश मे आलोकित हो कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य को समझ सुपथगामी बने।

१ सम्यग्ज्ञान

जब भासमान भानु की प्रखर किरणे अस्ताचल को चली जाती है, तब ससार के प्राणी घोर अन्धकार का अनुभव करते दु ख सागर मे निमज्जित हो जाते हैं, किन्तु जब वही सूर्य पुनः उदयाचल को आता है, तब जनता हर्ष विभोर हो उठती है। उसे नया उमंग व नया उत्साह मिलता है। प्राणियो के दिल दिमाग को कलिया खिल उठती हैं। यह महत्व है उस पौद्गलिक सूर्य के प्रकाश का, जो कभी बादलो की ओट मे अपना प्रकाश धु धला कर देता है। सूर्य तो बाह्य पदार्थो को ही प्रकाशित करने की क्षमता रखता है और दिन मे ही प्रकाश वितरित कर सकता है। रात्रि को वह विलुप्त रहता है।

तब भला! स्व-पर-प्रकाशक ज्ञान के प्रकाश का तो कहना ही क्या है? वह तो आत्मा की एक निर्मल ज्योति है, महान् शक्ति है। अखंड प्रकाशपुंज है। उसके अभाव मे तो क्रिया भी अन्धी समझी जाती है और वह ज्ञान का प्रकाश न तो बादलो की ओट मे ढका जा सकता है और न वह दिन को ही प्रकाश करता है। वह तो निरन्तर अविरल गति से अपना अखड प्रकाश फैलाता रहता है।

सूर्य चन्द्र का द्रव्य प्रकाश तो परिमित क्षेत्र को ही प्रकाशित करता है किन्तु ज्ञान का प्रकाश समस्त लोकालोक को प्रकाशित करता है।[1]

१—दव्वुज्जो उज्जोओ, पगासइ परिमियम्मि खेत्तमि भावुज्जो उज्जोओ, लोगालोग पगासेइ (आवश्यक निर्युक्ति १०६६)

किन्तु, ससाराभिमुखी प्राणी रवि और शशि को ही प्रकाशपु ज मानते है। प्रदीप और विजली को भी अ धकार का नाशक कहते हैं, पर याद रखिए यह पुद्गल प्रकाश आपको कभी धोखा भी दे सकता है, क्योकि यह प्रकाश अस्थायी है, क्षण विध्वसी है और है आपको मिनटो मे अ धकार के गहरे गर्त मे गिराने वाला जवकि ज्ञान का प्रकाश स्थिर है, अविनश्वर है और है अखड प्रकाश देने वाला। ज्ञान का दीपक कभी भी गुल नही हो सकता। अत· कहा जा सकता है कि इस ज्ञान के प्रकाश मे और पौद्गलिक चन्द्र सूर्य के प्रकाश मे महान् अन्तर है।

वह अन्तर क्या है ?

सहस्रो सूर्य हजारो चन्द्र और लाखो वल्वो तथा दीपको का प्रकाश भी नेत्र विहीन व्यक्ति के लिए व्यर्थ है। पर उसी व्यक्ति का दिल दिमाग ज्ञान का उदय होते ही आलोक से जगमगा उठता है।

वास्तव मे ज्ञान क्या क्या नही करता ? ज्ञान की महिमा में किसी कवि ने वहुत सुन्दर भाव व्यक्त किए है—

ज्ञान अज्ञानान्धकार को दूर करता है, प्रकाश-फैलाता है, शान्ति प्रदान करता है, क्रोध-विनष्ट करता है, धर्म को विस्तृत करता है और पाप को धुनता है। भला वतलाइए ज्ञान मनुष्यो का क्या-क्या कल्याण व इष्ट साधन नही करता ? अर्थात् सव कुछ करता है।[1]

इसीलिए तो कवियो ने ज्ञान की महानता का दिग्दर्शन कराते हुए नानाविध उपमाओ से उसे उपमित किया है।

"ज्ञान सचमुच कल्पवृक्ष से भी वढकर अभीष्ट फल देने वाला है, स्वर्ग लोक की कामधेनु से भी वढकर अमृत प्रदान करने वाला है,

---

१—तमो धुनीते कुरुते प्रकाश, शाम विन्तते विनिहन्ति कोपम्।
तनोति धम विधुनोति पाप, ज्ञान न किं किं कुरुते नराणाम्॥

कामकुम्भ ज्ञान की तुलना कर ही नही सकता। और सभी प्रकार के मनोभीप्सित को प्रदान करने वाला चिन्तामणि भी इसके समक्ष नगण्य एवं जघन्य ही ठहरता है।[1]

भौतिक विज्ञान ने आज मानव को वाह्य दृष्टि से शक्तिशाली बना दिया है। आज का मानव पख नही होने पर भी स्वच्छन्द आकाश मे विहरण कर सकता है। समुद्रो के अन्तस्तल को विदीर्ण कर सकता है। यह ताकत आज पौद्गलिक ज्ञान के बल से मानव ने सहज ही प्राप्त करली है। जब बाह्य ज्ञान की भी इतनी विराट् शक्ति है तो आभ्यन्तर ज्ञान का तो कहना ही क्या ?

ज्ञान, अज्ञान अधकार को नष्ट कर हृदय-मन्दिर मे ज्ञान की सहस्त्रो रश्मियो को वितरित करता है।

"ज्ञान मनुष्य जीवन का सार है।"[2]

ससारी जीवात्मा विषम भाव के माध्यम से नानाविध सक्लेशो से सक्लिष्ट रहता है। उन दु खो को जड मूल से उखाडने वाला ज्ञान ही है।

आत्मा का सर्वोपरि गुण ज्ञान है। जीव का लक्षण ही उपयोग या ज्ञान बतलाया गया है। शास्त्रकारो ने स्पष्ट शब्दो मे कहा है—

"जीवो उवओग लक्खणो" (उ०)

जीव उपयोग लक्षण वाला है।

ज्ञान मार्ग दर्शक है, ज्ञान आत्म-सुख का साधन है। ज्ञानी को कभी दु ख तथा भय हो ही नही सकता। भारत के पुराने राजनीतिज्ञ कौटिल्य ने क्या ही सुन्दर भाव व्यक्त किये है—

१—न ज्ञानतुल्य किल कल्पवृक्षो, न ज्ञानतुल्या किल कामधेनु.।
न ज्ञानतुल्यः किल कामकुम्भो, ज्ञानेन चिन्तामणिरप्प तुल्य ॥

२—णाण णरस्स सारो (दर्शनपाहुड, आचार्यकुन्द-कुन्द)

"ज्ञानवानो के पास ससार का भय भटक ही नही सकता।"[१]

अन्य अनुभवियो का सार भी द्रष्टव्य है।

'ज्ञान के प्रासाद पर चढकर मनुष्य बहुत बडे भय से मुक्त हो सकता है।[२]

"ज्ञान-दीपक के प्रकाश के फैलते ही ससार-भय लौट जाता है।[३]

'सम्पूर्ण प्रकार के अन्धकार समूह के नष्ट करने मे ज्ञान के समान कोई दीपक नही है।[४]

"अज्ञान सब से बडा दु ख है, अज्ञान से भय उत्पन्न होता है। सब प्राणियो के ससार परिभ्रमण का मूल कारण अज्ञान ही है।[५]

लोग समझा करते है कि मेरे पास पैसा नही है अत मै गरीब हूँ किन्तु सच्चा गरीब तो वह है जिसके पास बुद्धि का दिवाला है, ज्ञान का अभाव है। उससे बढकर इस ससार मे कोई भी गरीब नही है। जिसके पास ज्ञान है किन्तु लक्ष्मी नही तब भी वह व्यक्ति अपनी बुद्धि के द्वारा ससार सागर के विषम मार्ग से अपनी नाव को सरलता पूर्वक खे सकता है।

१—न ससार भय ज्ञानवताम् ॥

२—प्रज्ञा प्रासाद मारुह्य, मुच्यते महतो भयात् ॥

३—विज्ञान दीपेन ससार भय निवतते ॥

४—नस्ति ज्ञान समो दीप सर्वान्धाकार नाशने ॥

५—अण्णाण परम दुक्ख, अण्णाणा जायते भयम् अण्णाण मूलो ससारो, विविहो सव्व देहिण (इसिभासियाइ)

"घोर ससार सागर से जो मनुष्य पार होना चाहते है उन्हे चाहिए कि वे ज्ञान रूपी नौका पर चढकर सुखपूर्वक पार पहुँच जाँय ।[१]"

"जिस प्रकार एक धनुर्धारी बाण के बिना लक्ष्य वेध नही कर सकता है, ठीक उसी प्रकार मानव भी बिना ज्ञान के मोक्ष रूपी लक्ष्य को प्राप्त नही कर सकता है ।[२]"

ज्ञान के महाप्रकाश मे हम जगत् के सम्पूर्ण चराचर पदार्थों को हस्तामलकवत् जान सकते है। अत कहा जाता है कि "ज्ञान ससार के सम्पूर्ण रहस्यो को प्रकट करने वाला है। ज्ञान से ही चारित्र का बोध होता है ।[3]

इसी व्यवहार भाषा की पीढिका मे एक स्थल पर ज्ञान की महिमा बतलाते हुए कहा है—

"ज्ञान नही तो चारित्र भी नही ।[४]"

"एक तरफ एक अज्ञानी प्राणी है जो क्रोड पूर्व तक का तप रहा है और दूसरी तरफ वह व्यक्ति है जिसने ज्ञान के महाप्रभाव से तीनो योगो (मन, वचन, काया) को वश मे कर रक्खा है तो कहा जाता है कि क्रोड पूर्व के तप करने वाले व्यक्ति की अपेक्षा मन-वाणी और काय के योग को अपने वश मे रखना अधिक श्रेयस्कर है ।[५]"

१—ससार सागर घोर, तर्तुमिच्छति यो नर ।
ज्ञान नाव समासाद्य पार याति सुखेन स ॥

२—जह णवि लहदि हु दुक्ख, रहिओ कडस्स वेजभय विहीणो ।
तह णवि लक्खदि लक्ख, अण्णाणी मोक्ख मागस्स ॥ (बोध आ० कु०)

३—सव्वजगुज्जोयकर नाण, नाणेण नज्जए चरण (व्यवहार भाष्य ७।२१७)

४—नाणमि असतमि, चरित वि न विज्जइ ।

५—कोटि जन्म तप तपे, ज्ञान बिन कर्म झरे जे ।
ज्ञानी के क्षण मे त्रिगुप्ति ते सहज टरे ते ॥

ज्ञान के विना ज्ञानी नही वन सकता। अत साधक का कर्त्तव्य होता है कि वह सम्यक ज्ञान का प्रकाश लेकर ही जीवन मे यात्रा स्वीकार करे।

"जिस प्रकार विषम गर्त मे गिरा हुआ मानव लता आदि को पकड कर ऊपर आ जाता है, उसी प्रकार ससार रूपी विषम गर्त मे पडा हुआ व्यक्ति ज्ञान आदि का अवलम्बन लेकर मोक्ष रूपी तट पर आ जाता है।[1]"

जैसे दिवाकर के उदित होते ही अधकार लुप्त हो जाता है, उसी प्रकार ज्ञान रूपी प्रखर सूर्य के महाप्रकाश मे राग-द्वेष, विपय-कषाय रूप अज्ञानान्धकार टिक ही नही सकता।

जैनागमो मे ज्ञान के अनेक भेद एव उपभेद उपलब्ध होते हैं। उनमे मुख्य पाच भेद हैं—

"मति ज्ञान, श्रुत ज्ञान, अवधि ज्ञान, मन पर्याय ज्ञान और केवल ज्ञान।[2]"

इसी वात को 'राजप्रश्नीय सूत्र' मे यो कहा है—

"पचविहे णाणे पण्णत्ते तजहा-अभिनिवोहिय नाणे, सुयनाणे, ओहिनाणे, मणपज्जवनाणे केवल नाणे।"

'तत्वार्थ सूत्र' के रचयिता आचार्य उमास्वाति ने भी कहा है—

"मतिश्रुतावधि मन पर्याय केवलानि ज्ञानम्॥ (त०)

१ मति ज्ञान—इन्द्रिय और मन की मदद से रूपी अथवा अरूपी पदार्थो को आशिक रूप मे जानना मतिज्ञान है। उसका दूसरा

१—समार गड्डपतितो, णाणादवलंवितु समारूहति।
मोक्ख तड जहा पुरिमो वल्लि वितारोण विसमाओ (निशिथ भाष्य ४६५)

२—तत्थ पचविह नाण सुय आभिनिवोहिय।
ओहिनाण तु तइय मणनाण च केवल (उ० अ० २८ गा० ४)

नाम आभिनिवोधिक ज्ञान भी है। सक्षेप मे इसके चार भेद है और व्यापक रूप मे अट्ठावीस भेद होते हैं। वे है—

"अवग्रह ईहा, अवाय और धारणा।[1]"

अवग्रह—नाम, जाति, वर्ण कुल आदि की विशेष जानकारी से रहित पदार्थो का जो अत्यन्त सामान्य ज्ञान होता है, वह अवग्रह है। जैसे—सघन अ धकार मे किसी चीज का स्पर्श होने पर अरे यह कुछ है। इस प्रकार का व्यक्त ज्ञान अवग्रह कहलाता है।

ईहा—"अवग्रह से जाने हुए पदार्थो मे विशेष जानने की इच्छा ईहा कहलाता है।[2]" जैसे स्पर्श की हुई वस्तु मे यह विचार करना कि यह रस्सी होनी चाहिए, या सर्प, ऐसे तर्क को ईहा कहते है।

अवाय—"ईहा द्वारा अनुमित पदार्थो के निश्चित ज्ञान को अवाय नाम से अभिहित किया गया है।[3]" उदाहरणार्थ—उपर्युक्त स्पृष्ट पदार्थ "रस्सी" ही है इस प्रकार का व्यक्त ज्ञान अवाय कहलाता है।

धारणा—'अवाय से निश्चित ज्ञान का सुदृढ रूप ले लेना मतिज्ञान का अन्तिम स्वरूप धारणा है।[4]" कालान्तर मे रस्सी को देखते ही समझ लेना कि यह रस्सी है। इस ज्ञान को धारणा कहते है।

अवग्रह दो प्रकार का होता है व्यञ्जनावग्रह और अर्थावग्रह। इसमे व्यञ्जनावग्रह चक्षुरिन्द्रिय एव मन को छोडकर चार इन्द्रियो से होता है और अर्थावग्रह पाच इन्द्रिय और मन की सहायता से होता है। इसी तरह ईहा अवाय एव धारणा भी छ प्रकार की होती है। मतिज्ञान के इस तरह कुल उत्तर भेद २८ होते है।

१—अवग्रहेहाऽवाय धारणा (त० अ० १ सू० १५)

२—अवगृहीतार्थ विशेपाकाक्षणमीहा (प्रमाणनय० परि० २ सू० ८)

३—ईहित विशेप निर्णयोऽवाय (प्रमा० परि० २ सूत्र ९)

४—स एव दृढतमावस्थायन्नो धारणा (प्रमा० परि० २ सूत्र १०)

२ श्रुतज्ञान—पाँच ज्ञानो मे दूसरा ज्ञान है–श्रुतज्ञान। "स्व और पर को वोध कराने वाला श्रुतज्ञान है।[1]"

श्रुतज्ञान मतिज्ञान पूर्वक होता है। शास्त्र से सम्बद्ध ज्ञान को श्रुतज्ञान कहते हैं। अन्य ज्ञानो की अपेक्षा इस ज्ञान मे विशेषता है।" साधना की दृष्टि से श्रुतज्ञान सव ज्ञानो से श्रेष्ठ है।[2]"

चार ज्ञान मूक है एव श्रुतज्ञान मुखर है। चार ज्ञान वाले वस्तु के स्वरूप को जानते है किन्तु उसका कथन नही कर सकते। वस्तु स्वरूप के कथन की शक्ति सिर्फश्रुतज्ञान मे ही है। श्रुतज्ञान भी मन एव इन्द्रियो से होता है। उसके जैन आगमो मे अनेक भेद उपलब्ध होते हैं। जैसे

'अक्षरश्रुत और अनक्षरश्रुत, सन्नी श्रुत एव असन्नी श्रुत, सम्यक् श्रुत और मिथ्या श्रुत, सादि श्रुत और अनादि श्रुत, सपर्यवसित श्रुत, और अपर्यवसित श्रुत, गमिक श्रुत और आगमिक श्रुत, अ ग प्रविष्ट श्रुत और अ ग वाह्य श्रुत।[3]

अव एक प्रश्न होता है कि इन दोनो ज्ञानो का अस्तित्व केवल ज्ञान की प्राप्ति होने के अनन्तर भी रहता है या नही ?

इस विपय मे कुछ आचार्यो के मतभेद है। कुछ आचार्य कहते हैं कि केवल ज्ञान होने के वाद भी मति, श्रुत ज्ञान उसी प्रकार रहते हैं जिस प्रकार प्रचण्ड सूर्योदय के महाप्रकाश मे ग्रह नक्षत्र आदि। जैसा उनका प्रकाश उस महाप्रकाश मे तिरोहित हो जाता है उसी प्रकार मति, श्रुत ज्ञान भी केवल ज्ञान मे छिप जाते हैं।

१—स्व पर प्रत्यायक सुननाण (नन्दी चू० ४४)

२—सव्वणाणुत्तर सुयणाण (उत्ता० चू० १)

३—अक्खर सन्नी सम्म, साइय खलु सपज्जवसिय च।
गमिय अ ग पविट्ठ सत्तवि एएस पडिवक्खा॥ (नन्दी)

किन्तु, कुछ आचार्यो का यह कथन है कि केवल ज्ञान के बाद मति, श्रुत ज्ञान नही रह सकते। क्योकि मति ज्ञान और श्रुतज्ञान दोनो क्षायोपशमिक ज्ञान है और केवल ज्ञान क्षायिक ज्ञान है। क्षायिक ज्ञान होने पर क्षयोपशमिक ज्ञान नही रह सकते है।

३ अवधिज्ञान—तीसरा ज्ञान है अवधि। अवधिसीमा। जिस ज्ञान की सीमा हो, वह अवधि ज्ञान है। अवधि ज्ञान वाला व्यक्ति रूपी पदार्थो को ही जान पाता है। यह ज्ञान चारो गतियो के जीवो को होता है। उसके मुख्यतया दो भेद उपलब्ध होते है—भव प्रत्यय और गुण प्रत्यय। जो अवधि ज्ञान बिना किसी प्रयत्न के जन्म के साथ ही प्राणियो को मिले उसे भव प्रत्यय कहते है और जो प्रयत्न से यानी साधना विशेष से प्रकट हो, उसे गुण प्रत्यय कहते है।

भव प्रत्यय अवधि ज्ञान नरक और देवो को होता है और गुण प्रत्यय तिर्यच और मनुष्यो को होता है। उसके छ भेद है।

अणुगामि, अणाणुगामि, वर्धमान, हीयमान, प्रतिपाति और अप्रति पाति।

अवधिज्ञान मन और इन्द्रिय की अपेक्षा नही रखता है। यह ज्ञान आत्म साक्षात्कार से होता है। इसलिए इसे प्रत्यक्ष कहा जाता है और मति, श्रुत ज्ञान को परोक्ष बतलाया है।

व्यापकता की दृष्टि से अन्य ज्ञानो की अपेक्षा ये तीनो ज्ञान बढकर है। इन तीनो (मति, श्रुत, अवधि) ज्ञानो की विस्तृत परिधि मे सम्पूर्ण चारो गति के जीवो का समावेश हो जाता है।

जब ये तीनो ज्ञान किसी सम्यक् दृष्टि जीव को होते हैं तब ज्ञान कहलाते हैं और मिथ्या दृष्टि जीवो को होने पर ये ही ज्ञान अज्ञान नाम से अभिहित किए जाते है।

४ मन पर्याय ज्ञान—ज्ञान का चतुर्थ भेद है—मन. पर्याय ज्ञान। इस ज्ञान का अधिकारी मात्र मनुष्य ही है। मनुष्य मे भी कर्म

भूमि मे उत्पन्न गर्भज, सख्यात वर्ष की आयु वाला, पर्याप्ता, सम्यक्-दृष्टि, सयति अप्रमत्त और ऋद्धि-सपन्न।

मानव के मनस्थ भावो को जानना मन पर्याय ज्ञान है। यह मन पर्याय ज्ञान द्विविध है। ऋजुमति और विपुल मति। ऋजु मति की अपेक्षा विपुल मति का ज्ञान विशेष विशुद्ध होता है। ऋजु मति ज्ञान प्रतिपाति है (आकर चला जाता है) किन्तु विपुल मति अप्रति-पाति है। यह ज्ञान भी आत्म साक्षात्कार से होता है, अत प्रत्यक्ष ज्ञान है।

प्रत्यक्ष के दो भेद है। एक सकल और दूसरा विकल। अवधि एव मन पर्याय ये दोनो विकल प्रत्यक्ष है और केवल ज्ञान सकल प्रत्यक्ष। अवधि ज्ञान से केवल रूपी पदार्थो को ही जाना जाता है और मन पर्याय ज्ञान रूपी पदार्थ के अनन्तवे भाग सिर्फ मन की पर्यायो को ही जानता है। अत विकल प्रत्यक्ष ज्ञान है।

५ केवल ज्ञान— पाँच ज्ञानो मे अतिम ज्ञान है—केवल ज्ञान। यह ज्ञान विशुद्धतम है। इसे क्षायिक ज्ञान कहते हैं। आत्मा को पूर्ण शक्ति के चरम विकास का नाम केवल ज्ञान है। इस ज्ञान का विकास होने पर एक भी ज्ञान नही रहता है। यह ज्ञान अनन्त-अनन्त भूत, भविष्य और वर्तमान काल की पर्यायो का युगपत् (एक साथ) ज्ञान कराता है। केवल ज्ञान देश काल की सीमा से परे है। वह रूपी तथा अरूपी सभी पदार्थो को प्रत्यक्ष कराता है अत सकल प्रत्यक्ष कहा जाता है।

'शक्रस्तव' मे भगवान के विशेषणो मे 'अपडिहयवरनाण' मे इसी ज्ञान की ओर सकेत है।

जैन साधना का चरमोत्कर्ष केवल ज्ञान की प्राप्ति होना ही है।

इन पाचो ज्ञानो मे से एक जीव मे एक साथ चार ज्ञान हो सकते है। किसी मे एक, किसी मे दो, किसी मे तीन तथा किसी मे चार

ज्ञान का माहात्म्य अमित है। इसका गौरव उत्तुंग सुमेरु से भी उच्चतर है। ज्ञान मानव का स्पन्दन है। यह सर्वोच्च विभूति है। इस ऐश्वर्य के समक्ष सभी वैभव निष्प्रभ है।

"जिसके पास ज्ञान का ऐश्वर्य है, उन साधु पुरुषो को और क्या ऐश्वर्य चाहिए ?[1]

ज्ञान के अभाव मे मानव पथ भ्रष्ट हो भ्रम-सशय के कटकाकीर्ण मार्ग मे भटक जाता है। गहन तमिस्रा यामिनी मे इतस्तत ठोकरें खाने वाले मानव की तरह अज्ञानी भी इस जगत् मे दु ख प्राप्त करता है।

आचाराग सूत्र चूर्णी मे बताया है—

"जो अपने को नही जानता वह दूसरो को क्या जानेगा।"[2]

ज्ञान से प्रकाशित व्यक्ति शुभाशुभ, हेय-उपादेय, उचित-अनुचित, इष्ट-अनिष्ट, करणीय-अकरणीय का ज्ञाता होता है। वह काटो से हटकर सुपथ पर गतिशील हो जाता है। आश्रव से बचकर सवर-निर्जरा की सम्यक् आराधना कर, बन्धन से सहज ही बच सकता है।

'दशवैकालिक की निर्युक्ति' मे कहा है—

"ज्ञानी नवीन कर्मो का बन्ध नही करता है।"[3]

जब विवेक की लौ जग जाती है तो मानव एक अनुपम आनन्द की सहज अनुभूति प्राप्त करता है। ज्ञानी न सुख मे भूलता

१—ज्ञान धनाना हि साधूना
किमन्यद् वित्त स्यात (सूत्र कृताग चू १।१४)

२—ण याणति अप्पणो वि किन्नु अण्णेसि (आ चू १।३।३)

३—नाणी नव न बन्धइ (द नि. ३१६)

है और न दु ख मे भूलता है। क्योकि वह भलीभाति जानता है कि सुख-दु ख का क्रम अनवरत चलता ही रहता है। काली रात्रि का अन्त विहँसते प्रभात से होता है और हर सुरभित सुमन खिलने के पश्चात् मुरझाता ही है। सुख और दु ख भी स्थिर नही रहते। इस प्रसग पर राजा भोज के जीवन की घटना सहसा मेरी स्मृति पटल पर आजाती है।

राजा भोज ने अपनी अ गुली मे एक ऐसी मुद्रिका पहन रखी थी जिसमे यह लिखा था कि—

"यह भी न रहेगा"।

जब वे किसी भयकर सकटकालीन घडी मे होते तब भी उनकी दृष्टि उस मुद्रिका पर जाती और तत्काल सभल कर सोचने लगते कि यह दु ख सदा रहने वाला नही है। यह तो एक दिन जैसे आया है, वैसे ही उल्टे पैरो भग जायेगा। इससे चिन्तित होने की आवश्यकता नही। इस प्रकार सोचकर वे कभी दु ख मे घबराते नही और जब सुख का सागर उनके समक्ष हिलोरे मारता तो वे इस पक्ति को पढकर कभी सुख मे फूल कर मस्त नही बनते।

'मरण समाधि' मे कहा है—

"ज्ञान और चरित्र की साधना से ही दुख-मुक्ति होती है"[१]

मन को वश करने मे ज्ञान से पूरी सहायता मिलती है। यह मन बडा चचल है। पर इस मन को भी ज्ञान से सभावित किया जा सकता है। 'मरण समाधि' मे एक रूपक द्वारा इस बात को स्पष्ट किया गया है—

१—नाणेण य करणेण य, दोहिवि दुक्खय होइ (मरण समाधि १८७)

"ज्ञान की लगाम से नियन्त्रित होने पर अपनी इन्द्रिया भी उसी प्रकार लाभकारी हो जाती हैं जिस प्रकार लगाम से नियन्त्रित तेज दौडने वाला घोडा।"[1]

"अज्ञान सबसे बडा दु ख है अज्ञान से भय उत्पन्न होता है। सब प्राणियो के ससार-परिभ्रमण का मूल कारण अज्ञान है।'[2]

ज्ञानी और अज्ञानी के जीवन पर जब दृष्टिपात करते है तब हमे प्रतीत होता है कि इन दोनो मे महान् अन्तर है ज्ञानी का हृदय निर्भय, निराकुल, निश्चित सयमित एव पावन होता है। जब कि अज्ञानी हाय-हाय करता, रुदन, शिकायत और पश्चाताप मे अपने जीवन को व्यर्थ मे व्यतीत करता है। सस्कृत की एक सूक्ति है—

"काव्य-शास्त्र विनोदेन, कालो गच्छति धीमताम्।
"व्यसनेन च मूर्खाणा, निद्रया कलहेन वा।।"

अर्थात् बुद्धिमानो का समय काव्यशास्त्र के पठन-पाठन रूप विनोद से तथा मूर्खो का काल यमन, निद्रा तथा लडाई-झगड़े आदि मे व्यतीत होता है।

ज्ञान प्राप्त हो जाने से आसक्ति कम हो जाती है। अज्ञानी जहा ससारिक वासनाओ को उपदेश समझता है, वहा ज्ञानी उसे हेय मानता है।

ज्ञानी और अज्ञानी के जीवन को और भी अधिक स्पष्ट करने के लिए फूल और काटे का उदाहरण उपयुक्त होगा। यद्यपि फूल और काटे सग सग जन्मते है और एक ही वातावरण मे पलते है पर उनके व्यवहार मे रात दिन का अतर है। हिन्दी के प्रसिद्ध कवि 'हरि औधजी' की ये काव्यात्मक पक्तिया द्रष्टव्य है—

१—हु ति गुण कारगाई, सुयज्जूहि घग्गिय नियमियाई ।।
नियगाणि ई दियाइ, जइणो तुरगा इव सुदन्ता (मरण ६२२)

२—अण्णाण परम दुक्ख, अण्णाणा जायने भय
अण्णाणा मूलो ससारे विविहो सव्व देहिण (इसि २१।१)

कई लोग सोचा करते है कि वन मे रहेगे तो हम ज्ञानी वन जायेगे किन्तु वहा रहने से विशिष्ट ज्ञानी नही बना जाता है। यदि वहाँ रहने से ही अतिशय ज्ञान प्राप्त होता है तो शेर, चीते, बाघ आदि को क्यो नही।

ज्ञान की प्राप्ति निम्न कारणो से सहज होती है—

ज्ञान—प्राप्ति का मूल कारण है—एकाग्रता। एकाग्रता को भग करती है विकथा, जो कि हमारे शास्त्रो मे चार प्रकार की वतलाई गई हैं—स्त्री कथा, भोजन कथा, देश कथा और राज कथा। ज्ञान के साधक को इन चार विकथाओ से बचते रहना चाहिए।

उचित विचार-विमर्ष एव शाति चिन्तन, ज्ञान प्राप्ति का दूसरा अचूक साधन है।

ज्ञान प्राप्ति का तीसरा साधन है—धर्म जागरण करना—धर्म जागृति तथा ज्ञानाराधना के लिए जैन शास्त्रो मे रात्रि का समय अत्यन्त उपयोगी वताया गया है, क्योकि उस समय सासारिक कोलाहल शान्त हो जाता है। अत रात्रि मे ज्ञानाराधना सुचारु रूप से हो सकती है।

ज्ञान—प्राप्ति के साधनो मे अतिम साधन है—शुद्ध तथा पवित्र आहार। आहार का प्रभाव जीवन पर अवश्य होता है। शुद्ध एव सात्विक भोजन हमारी वुद्धि को निर्मल वनाता है और निर्मल वुद्धि होने पर ही ज्ञान साधन हो सकता है। निर्मल वुद्धि ज्ञान प्राप्ति का प्रमुख कारण है।[1]

१—चउहि ठाणेहि निग्गथाण वा निग्गन्थीण वा अतिसेसे णाण दसणे समुप्पज्जिउ कामे समुप्पज्जेज्जा तजहा—(१) इत्थीकह, भत्तकह, देसकह, राय कह नो कहेता भवति। (२) विवेगेण विउस्सग्गेण सम्ममप्पाण भावेता भवति। (३) पुव्वरत्तावरत्तकाल समयसि धम्मजागरियं जागरिता भवति। (४) फासुयस्स एसणिज्जस्स उछस्स सामुदाणियस्स सम्म गवेसिया भवत्ति इच्चेतेहि चउहि ठाणेहि निग्गन्थाण वा निग्गन्थीण वा जान समुप्पज्जेज्जा।

ज्ञान का इतना अतिशयपूर्ण महत्व होने पर भी वह क्रिया के अभाव मे पगु ही है। विवेचन के साथ आचरण, ज्ञान के साथ क्रिया का सयोग कचन-मणिके तुल्य है। इन दोनो का सुन्दर समन्वय ही हर साधक का लक्ष्य होना चाहिए।

ज्ञान आत्मा का ही एक भाव है और वह आत्मा से कभी भी अलग नही होता है।

आगम ज्ञान किसी अयोग्य व्यक्ति को तो देना ही नही चाहिए और योग्य व्यक्ति को उस ज्ञान से वचित नही रखना चाहिए। जैसे मिट्टी के कच्चे घडे मे रखा हुआ जल उस घट को ही नष्ट कर देता है, ठीक इसी प्रकार अयोग्य को दिया हुआ आगम ज्ञान उस मन्दबुद्धि को ही नष्ट-विनष्ट करने के लिए होता है। 'हितोपदेश' की नीति मे भी एक स्थल पर क्या ही सुन्दर भाव व्यक्त किए है—

"मूर्खो को उपदेश उनके कोप वढाने के लिए ही होता है, शान्ति के लिए नही, जैसे सर्पो को दूध पिलाना, उनके विष को वढाना है।"[1]

किसी हिन्दी कवि की यह उक्ति भी अनूठी है—

"हित हु की कहिये नही, जो नर होत अवोध।
ज्यो 'नकटे' को आरसी, होत दिखाये क्रोध॥"

अत गुरु का कर्त्तव्य होता है कि वह योग्य शिष्य को ज्ञान देकर गुरुत्व क ऋण से मुक्त हो जाय।

आत्मा को कर्म ऋण से मुक्त करने का सर्व प्रमुख मार्ग ज्ञान एव क्रिया से मुक्त जीवन-साधन है। ज्ञान, क्रिया और इच्छा के मेल से ही जीवन तेजस्वी और शान्तकामी वन सकता है। जव तक ये दोनो पृथक-पृथक वने रहेगे, जीवन सत्रस्त और व्याकुल वना रहेगा। इसी

१—उपदेशो हि मूर्खाणा प्रकोपाय न शान्तये।
पय पान भुजगाना केवल विषवर्धनम्॥ (हितोपदेश)

भाव को हिन्दी के प्रसिद्ध कवि जयशंकर प्रसाद ने अपनी श्रेष्ठ कृति 'कामायनी' मे इस प्रकार व्यक्त किया है—

ज्ञान दूर कुछ क्रिया भिन्न है।
इच्छा क्यो हो पूरी मन की ।।
एक दूसरे से मिल न सके।
यह विडम्बना है जीवन की ।।

द्वितीय दिवस

द
र्श
न

दि
व
स

कल ज्ञान दिवस के रूप मे हमने पर्वाराधना की। आज का यह दूसरा शुभ दिवस सम्यक् दर्शन का शुभ सन्देश लेकर हमारे समक्ष आया है। दर्शन या श्रद्धा धर्म का मूल आधार है। इसके अभाव मे ज्ञान एव क्रिया की कल्पना भी नही की जा सकती। आज यह दिन श्रद्धा से अन्त करण को आप्लावित करने का है।

२ सम्यग्दर्शन

दृष्टि सबको प्राप्त है, किन्तु देखने के ढंग सबके निराले हैं ।

दृश्य पदार्थो के विषय मे प्रत्येक प्राणी की विभिन्नता देखी जाती है । दृष्टि-भेद के इस प्रसंग को सरलता से समझने के लिए एक दृष्टान्त द्रष्टव्य है ।

एक विलासिता नारी का मृत सुन्दर कलेवर । उस राह से एक कामी व्यक्ति निकला । सुन्दर शव पर दृष्टि पडते ही उसकी विचार-धारा निम्न रूप मे प्रकट हुई ।

"हाय ! काम-पूर्ति का एक मनोरम साधन नष्ट हो गया"

कुछ क्षण अन्तर उसी पथ से एक त्यागी विरक्त महात्मा कहते हुए गुजरे—

"ओह, ससार कितना क्षणिक है । कुछ क्षण पूर्व हसता, मचलता यह शरीर अब निष्प्राण है ।"

पास ही खडे एक श्वान की दृष्टि कुछ और ही थी । वहा न तो राग है न विराग, वह तो सोच रहा था-लोग दूर हट जांय तो इस सुस्वादु मास, रुधिर का भक्षण किया जाय ।

परन्तु, महत्व दृष्टि का न होकर शुद्ध सम्यग्दृष्टि का है । सही चिन्तन ही महत्वपूर्ण है । शुद्ध विचार धारा का नाम ही शास्त्रीय शब्दो मे सम्यग्दर्शन है ।

इस सम्यग्दर्शन का महत्व अनन्त है । ज्ञान और क्रिया मे समीचीनता, सम्यग्दर्शन की अनन्त शक्ति से ही प्राप्त हो सकती है ।

सौ रुपये के नोट का एक कागज है और दूसरा [illegible] लम्बा चौडा कागज का टुकडा है, किन्तु किस्मत किसकी ? [illegible] सरकारी छाप है, उसी का मूल्य है, दूसरे का नही, चाहे वह आ[illegible] मे वडा ही क्यो न हो। ठीक इसी प्रकार जिस ज्ञान और आचरण पर सम्यग्दर्शन की मोहर लगी है, उसी ज्ञान-क्रिया का महत्त्व है, अन्यथा वह ज्ञान-क्रिया निष्प्रभ हैं।

जो मोती हजारो वर्षो तक विराट् जल राशि वाले समुद्र मे पडा रह कर भी नही गलता, वही मुक्ताफल हस के मुह मे पहुचकर गल जाता है। इसी तरह कर्म मोती भी सम्यग्दर्शन के महा प्रभाव को पाकर विनष्ट हो जाता है।

जीवन-प्रगति का मूल आधार सम्यग्दर्शन ही है। सम्यग्दर्शन ही शुद्ध व उच्च गति का प्रदाता है। इस प्रसग मे मगधाधिपति सम्राट श्रेणिक का उज्वल जीवन हमारे समक्ष है।

श्रेणिक के विषय मे भगवान् महावीर की यह भविष्योक्ति कि "श्रेणिक आगामी तीर्थंकर हैं", जैन जगत् का एक मनहर प्रसग है।

सहज ही प्रश्न होता है-श्रेणिक को यह गौरव कैसे मिला ?

इसका समाधान किसी विद्वान् के शब्दो मे कितना सुन्दर है-

"उस समय न तो वे वहुश्रुत पडित थे न आगम के ज्ञाता थे और न वे वाचक पदवी को धारण करने वाले ही थे परन्तु वे सम्यग्-दृष्टि की अनुपम निधि से सम्पन्न थे।[1]

और इसी सम्यग्दर्शन की अपूर्व शक्ति के प्रभाव से उन्होने तीर्थकर जैसे सर्वोच्च पद का वन्ध कर लिया।

१—न सेणिओ आसि तया वहुस्सुओ,
न यावि पन्नत्तिधरो न वायगो।
सो आगमिस्साइ जिणो भविस्सई।
समिक्ख पन्नाइ वर खु दसण॥

जिसका अन्तर-मानस सम्यग्दर्शन के महा प्रकाश से जगमगाता है, वह पशु भी मानव के सदृश माना जाता है और जिस मानव का जीवन मिथ्यात्व की कालिमा से काला है, अज्ञान अन्धकार से व्याप्त है, उस मानव की पशुओ की कोटि मे गणना होती है।

तो प्रश्न होता है, इतना महामहिम सम्यग्दर्शन क्या है? इसका स्वरूप कैसा है?

"जीव अजीव आदि नव तत्वो पर यथार्थ श्रद्धा प्रतीति एव रुचि करना ही सम्यग्दर्शन है।"[1]

"काम, क्रोध, मोह, मात्सर्य, छल-छद्म आदि दोषो के पूर्ण विजेता मेरे देव है।"

"शुद्ध पच महाव्रतधारी उत्तम निर्ग्रंथ मेरे गुरु हैं।"

"और केवली भगवान् द्वारा प्ररूपित तत्व मेरा धर्म है।"[2]
इस प्रकार इन तीन तत्वो पर दृढ श्रद्धा का नाम सम्यग्दर्शन है।

यह सम्यग्दर्शन ही वह मूलाधार है जिस पर साधना का सुरम्य प्रासाद सुस्थिर रहता है।

इस अमूल्य सम्यक्त्व रत्न की प्राप्ति आत्मा को किस प्रकार होती है, इसके लिए शास्त्रो मे सुन्दर विवेचन है।

आत्मा अनादि काल से मिथ्यात्व कर्दम से मलिन है, कलुषित है, अज्ञान से आच्छादित है, मोह के पर्दे से व्याप्त है, छल छद्म से काला है, समय पर उसका भी शुद्धिकरण किया जा सकता है। एक दिन आत्मा अन्धकार से निकल कर सम्यग्दर्शन रूप प्रकाश की ओर

१—तत्त्वार्थ श्रद्धान सम्यग्दर्शनम् (तत्त्वार्थ सूत्र)

२—अरिहन्तो महदेवो,
जावज्जीवाए सुसाहूणो गुरूणो।
जिण पण्णत्त तत्त,
इअ सम्मत्त मए गहिय ॥

अग्रसर होता है इस विषय को शास्त्रकारो ने तीन करण के माध्यम से भली भाति समझाया है—

१ थाप्रवृत्तिकरण—संसार का परिभ्रमण करते हुए महान् कष्टानुभव के अनन्तर कभी ऐसा सुअवसर प्राप्त होता है कि यह जीव आयुकर्म के अतिरिक्त अन्य कर्मो की दीर्घ स्थिति को एक कोटा-कोटि सागरोपम से कुछ न्यून कर देता है। उस समय आत्मा मे एक सहज जागृति प्रकट होती है। इस आत्मिक उल्लास का नाम यथा प्रवृत्ति-करण है।

जैसे एक अनगढ पत्थर अखड जल-प्रवाह से टक्करे खा-खाकर गोल-मटोल व चिकना बन जाता है, वैसे ही अकाम निर्जरा से महान् कष्टो व सकटो को सहन करते-करते आत्मा का परिणाम विशुद्ध हो जाता है, जिससे आत्मा पर लगे हुए राग-द्वेप के दाग को यह जीव स्पष्टतया देख सकता है, उसे यथा प्रवृत्तिकरण कहते हैं।

२ अपूर्वकरण—यथा प्रवृत्तिकरण से जब यह जीव आत्मा पर लगे हुए कर्म कलक को देख लेता है, तब इस कलक निवारण की इच्छा उसके अन्त करण मे सहज ही होती है। कठोर से कठोर प्रयत्न करके भी वह उसे काट देता है। आत्मा को कुछ ऐसी दिव्य अनुभूति होती है जो आज तक उसे कभी नही हुई थी। इसी प्रवृत्ति को अपूर्व-करण से अभिहित किया गया है। इस कारण के उदय से आत्मा सम्यक्त्व गुण-प्राप्ति मे सक्षम हो जाती है।

३ अनिवृत्तिकरण—इस साधना का अन्तिम चरण है-अनिवृत्ति करण। अपूवकरण से आत्मा मे एक प्रकार का महान् प्रकाश प्राप्त होता है। इस करण से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति अनिवार्य है। यह करण सम्यक्त्व-प्राप्ति विना नही लौटता है। इसलिये इस करण का नाम यथागुण अनिवृत्तिकरण रखा है।

इन्ही करणो को एक दृष्टान्त से स्पष्ट किया गया है।

एक सेठ के तीन पुत्रो ने व्यापार निमित्त किसी अच्छे नगर की ओर प्रस्थान किया।

पहाडी घाटी मे पहुँचने पर दो डाकुओ ने उन पर हमला किया।

सबसे छोटा भाई उन डाकुओ की राक्षस सदृश भयकर आकृति से घबराकर तत्क्षण विमुख हो, बचकर भाग गया।

दूसरा जो कुछ साहसी था वह पीछे की तरफ तो न मुडा परन्तु यथोचित साहस के अभाव मे उन डाकुओ के कुचक्र मे पडकर बन्दी हो गया।

पर तीसरा था अत्यन्त पराक्रमशील। उसने डटकर उन डाकुओ की चुनौती का मजबूती से जवाब दिया और उन्हे अपने बल विक्रम से परास्त कर, गन्तव्य स्थल पर सुरक्षित पहु च गया।

इस कथा का साराश यह है कि श्रेष्ठी पुत्रो की तरह से तीन करण पहाडी घाटी के तुल्य ग्रन्थि भेद है। दो डाकुओ के सदृश राग द्वेप है, सेठ के तीन पुत्रो के समान तीन करण, सम्यग्दर्शन रूप निधि की सप्राप्ति के लिए रवाना हुए व्यापारी-यात्री हैं।

यथा-प्रवृत्तिकरण वाला ग्रन्थिभेद की पहाडी घाटी मे राग द्वेष रूप डाकुओ से भयभीत हो, पीछे की ओर खिसक जाता है।

अपूर्वकरणवाला भी उन डाकुओ पर पूर्ण विजय तो नही प्राप्त कर सकता है किन्तु करने का प्रवल इच्छुक होता है।

किन्तु, अनिवृति करण वाला व्यक्ति इतना विशिष्ट बली होता है, जो राग द्वेष की विपय ग्रन्थि का भेदन करके सम्यग्दर्शन रूप अमूल्य निधि को प्राप्त कर ही लेता है।

सम्यग्दर्शन का उदय-स्थल आत्मा है। ससारस्थ आत्माओ को तीन विभागो मे विभक्त किया गया है —

१ बहिरात्मा—यह आत्मा पुद्गलानन्दी होता है। बुद्धि की जडता से वह जीव और देह को एक ही मानता है। स्वर्ग, नरक, पुण्य, पाप पर उसका विश्वास ही नही होता है। उसका मन्तव्य होता है,

"ना कोई देखा आवता, ना कोई देखा जात।
स्वर्ग नरक और मोक्ष की, गोलमाल है बात।।"

वह दृश्यमान जगत् मे ही आसक्त रहता है। वह आत्मतत्व को जड से भिन्न नही मानता है। उसका कथन है—

यावज्जीवेत् सुख जीवेत् ऋणं कृत्वा घृत पिवेत्।।
भस्मीभूतस्य देहस्य, पुनरागमनं कुत।।

जब तक जीओ, आराम से जीओ, ऋण लेकर भी घी पीते रहो, क्योकि यह देह भस्म होगा और इसके साथ आत्मा भी। पुनरागमन को कब, कहाँ, किसने, किस रूप मे देखा है? ऐसे प्राणी मिथ्यात्वी होते है।

२. अन्तरात्मा—अन्तरात्मा प्राणी सम्यग्दर्शन के चमकते प्रकाश से आत्मा-अनात्मा का भेद-विज्ञान करता है। उसे कर्त्तव्या-कर्त्तव्य, हेय, उपादेय, कर्मबन्ध एव मुक्ति का पूर्ण ज्ञान होता है। वह अशुभ से हट कर शुभ की ओर प्रस्थान करता है। उसका लक्ष्य होता है।—

"तमसो मा ज्योतिर्गमय।
असतो मा सद् गमय।"

अन्धकार से प्रकाश की ओर ले जाने वाला यह आत्मा अन्तरात्मा कहलाता है।

३ परमात्मा—अन्तरात्मा जब राग-द्वेप के वन्धनो को काट कर सर्वथा अपने शुभतम रूप मे निखरता है, तव परमात्मा वन जाता है। हर आत्मा इस स्तर तक पहुँचने की अनन्त शक्ति रखता है। एक अनुभवी के शब्दो मे—

"जब तेरी वद फैलियो का, खात्मा हो जायेगा।
तव तेरा ही आत्मा, परमात्मा हो जायेगा।"

दर्शन आत्मा का गुण है। उस परम विशुद्ध निज गुण की दो पर्याये है। (१) शुद्ध दशा और (२) अशुद्ध दशा। आत्मा की निर्मल

दशा को सम्यग्दर्शन कहते हैं और अशुद्ध अवस्था को मिथ्या-दर्शन कहा जाता है।

मिथ्यादर्शन आत्मा का विकारी भाव है और सम्यग्दर्शन अविकारी भाव। सम्यग्दर्शन अमृत तुल्य है तो मिथ्यादर्शन विप तुल्य।

इस सम्यग्दर्शन के जैन आगमो मे अनेक भेद-प्रभेद उपलब्ध होते है —

उनमे मुख्य पाँच भेद हैं जो निम्नलिखित हैं—

१ सास्वादन, २ क्षायोपशमिक, ३ औपशमिक, ४ वेदक और ५ क्षायिक।

सास्वादन सम्यक्त्व—उपशम सम्यक्त्व से च्युत होता हुआ जीव जब तक मिथ्यात्व के स्थान को प्राप्त नही करता है, तब तक की स्थिति सास्वादन सम्यक्त्व नाम से कही जाती है।

२ **क्षायोपशमिक सम्यक्त्व**— सम्यक्त्व मोहनीय के उदय से उदय मे आए हुए मिथ्यात्व मोहनीय एव अनन्तानुबन्धी चतुष्क का क्षय होने पर तथा उदय प्राप्त कर्म प्रकृतियो का उपशम होने से जीव का जो परिणाम विशेप होता है, वह क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहलाता है। यह विशुद्धि ऐसी ही है जैसे जल प्रक्षालन से कोद्रव धान्य की मादक शक्ति कुछ नष्ट हो जाती है तो कुछ अवशिष्ट रह जाती है।

३, **औपशमिक सम्यक्त्व**—अनन्तानुवन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ तथा दर्शन मोह का त्रिक इस तरह कुल मिलाकर सप्त प्रकृतियाँ सम्यक्त्व गुण की विरोधी है। इन सातो प्रकृतियो के उपशम द्वारा होने वाले जीव की अवस्था विशेष का नाम औपशमिक सम्यक्त्व है। जैसे मल के नीचे जम जाने पर जल मे अपने आप स्वच्छता आ जाती है वैसे ही इस सम्यक्त्व से मिथ्यात्व कर्दम नीचे दव जाता है।

४ वेदक सम्यक्त्व—क्षायोपशमिक सम्यक्त्व से क्षायिक सम्यक्त्व की ओर अग्रसर होते समय आत्मा मे महान् विशुद्धता आती है, और जब वह सम्यक्त्व मोहनीय के अन्तिम कर्म दलिक का अनुभव करता है उस समय होने वाली आत्मा की स्थिति विशेष वेदक सम्यक्त्व के अभिधान से सम्बोधित होती है।

क्षायिक सम्यक्त्व—उपर्युक्त सातो प्रकृतियो का समूल उन्मूलन ही शास्त्रो मे क्षायिक सम्यक्त्व के नाम से अभिहित है। यह आत्मा की सर्वोत्कृष्ट विशुद्धि है। सम्पूर्ण दर्शनमोहनीय कर्म से विमुक्त हो आत्मा उसी प्रकार सर्वथा निर्मल बन जाती है जैसे सभी प्रकार के मल से रहित विशुद्ध जल।

अन्य जगह द्विविध सम्यक्त्व निम्न प्रकार कहा गया है—

द्रव्य सम्यक्त्व और भाव सम्यक्त्व—

मिथ्यात्व के पुद्गल जब विशुद्ध रूप मे परिणत हो जाते हैं तब वे पुद्गल द्रव्य सम्यक्त्व कहलाते है और उनसे होने वाला जीव का तत्व श्रद्धा रूप विशिष्ट परिणाम भाव सम्यक्त्व है।

निश्चय सम्यक्त्व और व्यवहार-सम्यक्त्व—

राग-द्वेष एव मोह का आत्यन्तिक क्षय हो जाना तथा आत्म-भाव मे रमण करना जहाँ निश्चय सम्यक्त्व है वहाँ वीतराग को देव मानना, शुद्ध पच महाव्रत धारक मुनि को गुरु समझना एवं केवलि-प्ररूपित दया को श्रेयष्कर धर्म स्वीकार करना व्यवहार सम्यक्त्व है।

पौद्गलिक सम्यक्त्व तथा अपौद्गलिक सम्यक्त्व—

क्षायोपशमिक पौद्गलिक सम्यक्त्व है और क्षायिक तथा औपशमिक ये दोनो सम्यक्त्व अपौद्गलिक है। कारण, क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की अवस्था मे कर्म पुद्गलो का प्रदेशानुभव होता है और क्षायिक एव औपशमिक सम्यक्त्व की अवस्था मे न तो प्रदेशानुभव होता है और न विपाकानुभव ही।

निसर्गज सम्यक्त्व और अभिगमज सम्यक्त्व

जाति स्मरण ज्ञान के योग से तथा गुरु आदि के उपदेश के विना स्वभाव से जो सम्यक्त्व के प्रति रुचि होती है उस तत्व श्रद्धा को निसर्गज सम्यक्त्व कहते है। तीर्थकर भगवान तथा गुरु आदि के उपदेश से जो सम्यक्त्व होता है, उस सम्यक्त्व का नाम अधिगमज सम्यक्त्व है।

सम्यक्त्व के अन्य प्रकार से तीन भेद भी द्रष्टव्य है—

(१) **कारक सम्यक्त्व** जिस सम्यक्त्व के प्राप्त होने पर इस जीव की इच्छा सम्यग्चारित्र के प्रति विशिष्ट रूप से जागृत हो, उस सम्यक्त्व का नाम कारक सम्यक्त्व है। इस प्रकार की सम्यक्त्व वाला जीव स्वय चारित्र धर्म का पालन करता है तथा दूसरो से भी पालन करवाता है।

(२) **रोचक सम्यक्त्व** सम्यक्त्व के प्राप्त होने पर जीव की रुचि सयम-पालन की तरफ अवश्य होती है किन्तु चारित्रावरणीय कर्म के उदय से प्राणी सयम पालन नही कर सकता है, उसे रोचक सम्यकत्व कहा जाता है।

(३) **दीपक सम्यक्त्व** स्वय मे तो सम्यग्दर्शन की ज्योति नही जग पाई है किन्तु दूसरो के अन्त करण मे जागृत करने की क्षमता रखता है। वह आतमा उपचार से दीपक सम्यक्त्व से युक्त होता है।

'उत्तराध्ययन सूत्र' के २८वे अध्ययन मे दश विध रुचियाँ निम्न प्रकार से वताई गई है—

१. **निसर्ग रुचि** गुरु आदि के सदुपदेश विना, स्वभाव से जाति स्मरण ज्ञान के योग से जो सम्यक्त्व के प्रति रुचि जागृत होती है, वह निसर्ग रुचि कहलाती है।

२ **उपदेश रुचि** अरिहन्त वीतराग भगवान् तथा गुरु आदि के सदुपदेश से उत्पन्न होने वाली तत्व श्रद्धा, उपदेश रुचि के नाम से अभिहित है।

३ आज्ञा रुचि · तीर्थंकर भगवान अथवा उनके द्वारा उपदिष्ट मार्ग का अनुसरण करने वाले मुनियो की आज्ञा का आराधन करते हुए सम्यक्त्व के प्रति होने वाली अभिलाषा को, आज्ञा रुचि कहा गया है।

४ सूत्र रुचि : आचाराग आदि द्वादश अ ग सूत्रों के अध्ययन से समुत्पन्न श्रद्धा, सूत्र रुचि है।

५ बीज रुचि एक पद के सीखने पर भी उसका अनेक पदो के रूप मे परिणत हो जाना, बीज रुचि है, जैसे एक छोटे से बीज का बडे वृक्ष के रूप मे हो जाना तथा छोटे से तेल बिन्दु का जल मे फैल कर विस्तृत आकार धारण कर लेना।

६ अभिगम रुचि अगोपागादि सूत्रो का अर्थ रूप पठन-पाठन करने से उत्पन्न श्रद्धा, अभिगम रुचि है।

७ विस्तार रुचि नव तत्त्व, द्रव्य, गुण, पर्याय, नय निक्षेप, प्रमाण छ द्रव्य आदि का विस्तृत ज्ञान करते हुए सम्यक्त्व की तरफ जो अभिरुचि होती है, उसका नाम विस्तार रुचि है।

८ क्रिया रुचि विशिष्ट प्रकार की धार्मिक क्रिया करते हुए सम्यक्त्व के प्रति रुचि का होना, क्रिया रुचि है।

६ सक्षेप रुचि : जो व्यक्ति जिनेन्द्र भगवान के मार्ग मे विशिष्ट विज्ञ नही है, आगम ज्ञान का दिग्गज विद्वान् भी नही है फिर भी स्वल्प ज्ञान के होने पर भी तत्व श्रद्धा मजबूत रखता है, उसे सक्षेप रुचि वाला कहा जाता है।

१० धर्म रुचि श्रुत धर्म और चारित्र धर्म का सुचारु रूप से आराधन करते-करते सम्यक्त्व के प्रति रुचि प्रकट होना, धर्म रुचि के नाम से अभिहित है।[1]

१—निसग्गुवएसरुई, आणारुई सुत्तबीयरुइमेव।
अभिगम वित्थाररुई, किरिया सखेव धम्मरुई। (उ अ २८ गा १६)

जिस प्रकार स्वर्णमय भूषणो मे रत्न जड दिये जाय तो उनकी शोभा अत्यधिक बढ जाती है अथवा सहज सौन्दर्य युक्त शरीर सुन्दर वस्त्राभूपणो से निखर उठता है, ठीक इसी प्रकार सम्यक्त्व के भी कुछ भूषण है जिनसे सम्यग्दर्शन सुशोभित होता है वे भूषण इस प्रकार है—

१ स्थिरता : जिनेन्द्र भगवान के वताए हुए धर्म पर स्वय सुदर्शन एव कामदेव की तरह दृढ रहना तथा दूसरो को भी मजबूत वनाने का प्रयास करना, इस प्रकार प्रियधर्मी के साथ हृढधर्मी होना सम्यक्त्व का पहला भूषण है।

२ प्रभावना जिन शासन की प्रभावना करें। जिन मत मे फैले हुए भ्रम का निराकरण कर जिन धर्म की लौकिक और लोकोत्तर महिमा को प्रकाशित करे, इस प्रकार की शुभ उत्साह भरी प्रवृतियो से भी सम्यग्दर्शन सुशोभित होता है।

३. भक्ति तीसरे भूपण मे ये गुण सन्निहित है, गुरुजन की भक्ति, विनय व वैय्यावृत्य करना और ज्ञान, दर्शनचारित्र मे जो हमसे ज्येष्ठ व श्रेष्ठ हो उनका आदर सत्कार करना इत्यादि।

४ कौशल · सर्वज्ञ भगवान द्वारा प्ररुपित सिद्धान्तो का सागोपाँग अधिकृत विशेप ज्ञान का नाम कौशल भूषण है। इसके द्वारा सम्यग्दर्शनी अन्य लोगो को भी धर्म मे स्थिर करने मे सक्षम होता है।

५ तीर्थ सेवा सम्यग्दर्शन रूप स्वर्ण, सेवा के सौरभ से सुवासित होकर और भी देदीप्यमान वन जाता है। चतुर्विध सघ साधु-साध्वी, श्रावक, श्राविका की यथोचित सेवा करना।

ये पचविश भूषण सम्यग्दर्शन मे एक नयी, अपूर्व चमक-दमक एव कान्ति उत्पन्न करते है।[1]

१—स्थैर्यं प्रभावना भवति, कौशल जिन शासने।
तीर्थ सेवा च पञ्चास्य, भूपणानि प्रचक्षते॥

सम्यग्दर्शन ही आध्यात्मिक साधना का मूल मत्र है। सम्यक्त्व की महिमा व गरिमा अकथनीय है। किसी आचार्य ने ठीक ही कहा है :—

"दसरण मूलो धम्मो।"

धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है। जैसे मूल के अभाव मे वृक्ष नही टिक पाता है, वैसे ही सम्यग्दर्शन के अभाव मे धर्म के अस्तित्व की कल्पना तक नही की जा सकती। एक अन्तर्मुहुर्त के लिए भी सम्यग्दर्शन का सस्पर्श सीमित भव-भ्रमरण का कारण होता है।

इस प्रकार सम्यग्दर्शन की महिमा अद्‌भुत है। सम्यग्दर्शन वास्तव मे एक अखड ज्योति पुञ्ज है। उसका चमत्कार न तो बुद्धिगम्य है और न हमारी कल्पना मे ही आता है।

सम्यग्दशन के अभाव मे ज्ञान, ज्ञान नही रहता वल्कि अज्ञान माना जाता है और चारित्र, चारित्र न होकर कुचारित्र कहलाता है।

सम्यग्दर्शन के प्रकट होते ही आत्मा मे एक नयी जागृति उत्पन्न होती है। जहाँ वह जिन भोगोपभोग के साधनो मे ममत्व वुद्धि रखता था, वहाँ वे उसे रोग तुल्य प्रतीत होने लगते है।

जैसे जन्मान्ध पुरुष को दृष्टि उत्पन्न होने पर सृष्टि अपूर्व दिखाई देती है, वैसे ही सम्यग्दृष्टि पैदा होने पर उस आत्मा को जगत् के पदार्थ मुग्ध नही वना सकते हैं। जिन स्वर्ण, रजत, मरिण, मुक्ता आदि सामग्रियो को प्राप्त करने के लिए वह तरह-तरह के पापकर्म का आचरण करता था, अव वे सारे भोगोपभोग उसे मिट्टी के ढेले की तरह प्रतीत होते है।

"इस पृथ्वी पर चक्रवर्त्ती का वैभव अद्वितीय माना जाता है। वे छ खण्ड के अधिनायक, नव-निधान एव चौदह रत्नरूप ऐश्वर्य के उपभोक्ता माने जाते है और इन्द्र का वैभव भी स्वर्ग लोक मे सर्वोत्कृष्ट समझा जाता है। इन दोनो पदो की प्राप्ति के लिए जहाँ

देव, दानव और मानव तरसते हैं, वहां सम्यग्दृष्टि उन्हे "काक कबीर सम मानता है।"[1] इस प्रकार की दृष्टि सम्यग्दर्शन के कारण ही है।

यह कोई आवश्यक नही कि सम्यग्दृष्टि प्राणी गृहवास का त्याग कर वनवास स्वीकार करे ही। परिवार को छोड अनगार बने ही। विषय कषाय को सर्वथा हेय समझकर भी वह कभी त्याग कर सकता है कभी नही भी। कर्मोदय से कदाचित् गृहस्थ जीवन मे अनगार बने ही। कर्मोदय से कदाचित् गृहस्थ जीवन मे रहना पडे तो भी उसमे वह तन्मय नही बनता है।" वह भोगोपभोग के साधनो से उसी प्रकार अलग रहता है, जिस प्रकार जल मे जलज।"[2]

भरत चक्रवर्ती की तरह ससार मे रहता हुआ भी सम्यक्दृष्टि उस मे आसक्त नही बनता।

'आलोचना पाठ' मे कहा गया है—

"अहो समदृष्टि जीवडा, करे कुटुम्ब प्रतिपाल।
अन्तर गत न्यारो रहे, ज्यू धाय खिलावे बाल।।"

धाय माता जैसे दूसरो के बच्चो को खिलाती है, पिलाती है, वह सब तरह से माता के सदृश ही बाहर का व्यवहार करती है वह उसके सुख मे सुखी व दु ख मे दु खी होती है किन्तु एक क्षण भर के लिए भी यह नही भूलती है कि यह बच्चा मेरा नही, बल्कि पराया है।

जैसे सूर्य का उदय सृष्टि को नया रूप एव नयी कान्ति देता है, रात्रि के सघन अन्धकार को नष्ट-भ्रष्ट कर देता है वैसे ही सम्यग्दर्शन का आलोक आत्मा मे एक विशिष्ट जागृति प्रदान करता है।

सम्यग्दर्शन की ज्योति विचारो पर तो परिवर्तन लाती ही है किन्तु व्यवहार मे भी परिवर्तन किए विना नही रहती। विचार

१—चक्रवर्ती की सम्पदा, इन्द्र सरीखा भोग।
काक बीट सम गिनत है, सम्यग्दृष्टि लोग।।

२—जहा पोम्म जले जाय, नोव लिप्पइ वारिणा। (उ. अ २५ गा २७)

का परिवर्तन आचार पर असर करता ही है। उसे दुनिया के विषय-भोग नीरस, दु खद एव भव-भ्रमण कारक दृष्टिगत होते हैं।

नाटक का पात्र राजा नाच करता है। राजा की तरह ऐश्वर्य का उपभोग करता है। युद्ध करता है, पराजित होने पर खेदानुभव करता है और विजयी होने पर प्रसन्नता अनुभव करता है। वेश-भूषा राजा की तरह ही पहनता है और दिखने मे सब चिन्ह राजा की तरह ही दृष्टिगोचर होते है। वह किसी भी प्रकार से राजा से कम दिखाई नही देता, फिर भी मन मे तो यही चिन्तन करता है कि "मैं वास्तविक राजा नही, बल्कि अभिनय करने वाला हूँ। वैसे ही सम्यग्दर्शनी गृहस्थ-जीवन मे सुख-दु ख के प्रसगो पर सुखानुभव तथा दु खानुभव करता है। सयोग और वियोग मे हर्ष एव विषाद व्यक्त करता हुआ भी ससार के तीव्र मोह के वातावरण से उसका जीवन अलग-थलग रहता है।

'योग बिन्दु' मे आचार्य हरिभद्र ने कहा है—"सम्यग्दर्शनी व्यक्ति का शरीर ससार मे रहता है और मन मोक्ष मे।"[1]

जिस प्रकार गाय अपने बछडे को नही भूलती है, पतिव्रता अपने पति को विस्मृत नही करती है, पनिहारिन एक दूसरी से हँस-हँसकर बाते करती हुई, तालिये पीटती हुई, सिर पर रखे हुए घर को नही भूलती है, नटी नाचती है, कूदती है तरह-तरह से अग-प्रत्यगो को हिलाती-डुलाती है फिर भी अपने लक्ष्य-स्थल रस्सी को हमेशा ध्यान मे रखती है। चकवी कभी भी सूर्य को नही भूलती है, उसका ध्यान बराबर यही बना रहता है कि कब सूर्योदय हो और कब हमारा विरह समाप्त हो। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि ससार मे रहकर भी आत्म-साधना के पवित्र पथ को विस्मरण नही करता है।

एक बार राम भक्त हनुमान् ने भक्तप्रवर विभीषण से पूछा—"आपका लका मे निवास कैसे होता है ?

१—मोक्षे चित्त तनुर्भवे (योग बिन्दुसार)

प्रत्युत्तर देते हुए विभीषण ने कहा—

"सुनुहु पवनसुत ! रहनि हमारी ।
जिमि दसनन बिच, जीभ बिचारी ।।" (रामचरित मानस)

जिस प्रकार बत्तीस दातो के बीच जिह्वा सावधान व सतर्क रहती है, इसी प्रकार मैं रावण की लका मे सतर्कता से रहता हूँ ।

इसी प्रकार सम्यग्दर्शी भी ससार मे सजग रहते हैं ।

सम्यग्दृष्टि और मिथ्या दृष्टि के जीवन की तुलना भ्रमर एव मक्षिका के दृष्टान्त से की जा सकती है । भ्रमर और मक्षीका की तरह सम्यदृष्टि और मिथ्या दृष्टि का जीवन होता है ।

भ्रमर सुमनो पर मडराता है, रस पीता है, उसके सौरभमय वातावरण मे घूमता है किन्तु बन्धन मे नही पडता है । जब चाहता तब वह वहाँ से उड भी सकता है । किन्तु, मक्षिका की स्थिति कुछ निराली होती है । वह जिस श्लेष्म पर बैठती है उससे उडने की इच्छा करके भी वह उड नही सकती ।

इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि भ्रमर की तरह ससार मे रहता हुआ भी जब चाहता है तब वह मोह-ममत्व से अलग हट सकता है और मिथ्यादृष्टि अन्तिम घडियो तक भी उसी मे उलझा रहता है ।

जैसे हजारो वर्षो तक भी जल के तल मे रहने वाले सोने पर कोई हाथ नही डाल सकता है, वैसे ही ससारस्थ सम्यक्त्वी पाप कर्दम से अलिप्त रहता है ।

"सम्मत्त-दसी न करेइ पावं ।"

सम्यक् दृष्टि आत्मा पाप कर्म नही करता है ।

"समझू शके पाप से, अण समझू हर्षन्त ।
वे लूखा वे चीकना इण विध कर्म बन्धन्त ।।"

ससार के प्राणी कोई सुखी नजर नही आते । सब का अपना-अपना रोना है । कोई धन के लिए रोता है, कोई जन के लिए तडफता है,

कोई मकान के लिए छट पटाता है तो कोई मोटर कार के लिए आकुल और व्याकुल बन रहा है। ससार का कोई भी प्राणी मजबूती के साथ नही कह सकता है कि "मैं पूर्ण रूप से सुखी हूँ।" क्योकि, जब तक इन्द्रियो की विषयो मे आसक्ति है तब तक मानव को सच्चा सुख मिलना सभव ही नही है। सच्चा सुख तो आत्मा मे है और वह कहीं बाहर टटोलता है। लेकिन सम्यग्दृष्टि ने हिन्दी के प्रसिद्ध कवि निराला की इस बात को हृदयगम कर लिया है—

"पास ही रे हीरे की खान।
खोजता उसे कहाँ नादान॥"

और कबीर की निम्नोक्ति सत्य चरितार्थ होती है—

"सबकी मुट्ठी लाल है, कोई नही कगाल।'
मुट्ठी खोल नही देखते, यही बडा बेहाल॥"

सम्यक्त्व के असद्भाव मे अन्तर्नयन खुल ही नही सकते और जब तक अन्तश्चक्षु नही खुलते तब तक हम अपने आत्म भान को जाग्रत कर ही नही सकते।

आपने कभी भ्रान्त बने हुए सिह के बच्चे की कहानी सुनी होगी—

सयोगवश एक सिह-शिशु भेडो मे आकर मिल गया। और अपने आपको भेड समझने लगा।

एक बार शेर की गर्जना से भयभीत हो कर भगते हुए उस सिह-शावक को शेर ने 'सिहत्व' का भान कराते हुए कहा—

"भगो मत, तूँ और मैं दो नही बल्कि एक ही है।

विश्वास नही हो तो चल किसी नदी के किनारे अपना स्वरूप देखले।"

वे नदी-तट पर पहुँचे। सरिता के विमल जल मे अपना सिह सदृश स्पष्ट प्रतिबिम्ब देख, उस सिह-शावक ने अपने सच्चे स्वरूप को

पहचान लिया, अब उसमे एक नया ही परिवर्तन था। उसकी हीनता, दीनता विलुप्त हो चुकी थी। सिंह के तेज से वह दीप्तिमान था। ज्ञान होते ही वह अपने आपको भेड नही, वल्कि शेर समझने लगा।

इसी प्रकार अपने स्वरूप को भूला मानव तीर्थंकर या सद्गुरु के प्रबोध से जब सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लेता है तब वह भी अपने सच्चिदानन्द स्वरूप को हृदयगम कर मस्ती से गुनगुनाने लगता है।

"मै हूँ उस नगरी का भूप, जहा नही होती छाया धूप।"

दृष्टि सुधरते ही सृष्टि भी सुधर जाती है। सम्यग्दर्शन प्राप्त होते ही उसे पता चलता है कि मेरी आत्मा अनन्त शक्ति का भडार है। वह देह और आत्मा को भिन्न-भिन्न तत्व मानने लगता है।

सम्यग्दर्शन आत्मा सासारिक सुखोपभोगो के विराट् साधनो को प्राप्त करके भी अहकार नही करता किन्तु यह सोचता है कि कब वह सुसमय आए जब कि मैं इनसे परे हटू। यह भी एक प्रकार का वन्धन है।

इसी प्रसग मे मुझे एक कथा याद आ रही है—

एक वार ससुराल जाती हुई किसी लडकी के रुदन को सुन कर कोपाविष्ट हो अकवर वोल उठा—

"ये दामाद बहुत खराव होते हैं। विचारी निर्दोष वालाओ को रुलाते है, अत इन्हे शूली पर चढादो।"

सभी सभासद अवाक् थे। वीरवल को यह कार्य सौपा गया।

वीरवल विचक्षण था। उसने कुछ स्वर्णमय कुछ रजतमय और कुछ लोहे की शूलिया वनवादी।

कार्य समाप्ति पर राजा को वे शूलियाँ दिखाई गई। उन शूलियो को देख अकवर ने जिज्ञासा प्रकट की—

"यह भेद क्यो ?"

वीरवल का तत्काल उत्तर था—"दामादो के पद भी तो अलग-अलग है । आप जहापनाह भी किसी के दामाद हैं, ये प्रतिष्ठित सामतगरण भी इसी श्रेणी मे आते हैं और साधारण व्यक्ति भी किसी के जवाई है ।

पद प्रतिष्ठा के उत्तम, मध्यम, सामान्य तारतम्य को दृष्टिगत रखते स्वर्ण, चादी एवं लोहे की शूलिया निर्मित की गई है ।

वीरवल के इस चोट भरे उत्तर से सब हतप्रभ हो गए, पर वादशाह ने सिर हिलाते कहा—

"वन्धन तो वन्धन ही है । सोने की शूलिया भी मृत्यु का ही निमन्त्रण है ।"

सच्चा ज्ञान वही है जो सम्यग्दर्शन से समन्वित है ।

सम्यग्दर्शन के अभाव मे आचार्य तक का पद भी भारभूत हो जाता है । हमारे शास्त्रो मे एक उदाहरण अ गारमर्दनाचार्य का आता है ।

एक वार किसी राजा ने एक स्वप्न मे देखा—

"पाँच सौ हाथी एक गीदड की सेवा कर रहे हैं ।"

इस अजव गजव के स्वप्न को देख, राजा को वहुत आश्चर्य हुआ । उनके विस्मय का पारावार नही रहा । उन्होने अपनी सभा के वुद्धिमान् मन्त्रियो से स्पप्न का अर्थ पूछा ।

मन्त्रिगण भी इस रहस्य को प्रकट करने मे असमर्थ रहे । उनकी समझ मे ही नहीं आ रहा था कि क्या उत्तर दिया जाय ।

इतने मे ही किसीएक वनपालक ने आकर राजा को वधा दी । "राजन ! एक आचार्य पाँच सौ शिष्यो की मडली युक्त अपनी वाटिका मे पधारे है ।"

यह सुनते ही राजा ने निश्चय किया कि कही मेरे स्वप्न के गीदड ये आचार्य तो नही है ।

परीक्षार्थ राजा ने मुनि के स्थान के चारो तरफ कोयलो के छोटे छोटे कण बिखेर दिये।

छोटे मुनि रात्रि को वाहर परठने को आते किन्तु यह सोच कर कि यहाँ सूक्ष्म जीवो की उत्पत्ति हो चुकी है। पुन भीतर लौट जाते।

इस परेशानी से आचार्यजी उवल पडे। "कहाँ है जीवोत्पत्ति। लो मै जाता हूँ", जीवोत्पत्ति है तो मैं क्या करूँ। आवश्यक कार्यो की तो निवृत्ति करनी ही होगी।

आचार्य उन कोयलो को मर्दन करते निश्शंक भाव से तेज कदम रखते हुए गये और पुन भीतर आगये।

गुप्तचरो से राजा ने समझ लिया कि वास्तव मे मेरे स्वप्न के गीदड ये आचार्य हैं और हस्तीरत्न तुल्य इनका यह विराट् शिष्य-परिवार है।

गुरु अभव्य है और शिष्य भव्य। आचार्य के पास वाह्य ज्ञान का तो भडार भरा पडा है किन्तु सम्यग्दर्शन का अभाव है।

सम्यक्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि के जीवन मे आकाश-पाताल सा अन्तर है। सम्यक् दृष्टि बुरे मे से अच्छाई चुनता है और मिथ्या दृष्टि अच्छाई मे से बुराई को ही ग्रहण करता है। यह इस कथा से सुस्पष्ट हो जायेगा—

एक वार अकवर ने वीरवल से कहा—
"मैंने एक स्वप्न देखा है।"

"वह स्वप्न कौनसा है ?" वीरवल की विनम्र जिज्ञासा थी।

"मैं और तू कही घूमने निकले। रास्ते मे एक अमृत कुण्ड और दूसरा गन्दगी से व्याप्त कुण्ड उपलब्ध हुए। तुम तो गन्दगी के कुण्ड मे जा गिरे और मैं अमृत कुण्ड मे।"

स्वप्न सुनकर सभा भवन अट्टहास से गूंज उठा। मौलवी और वीरबल से ईर्ष्या रखने वाले कुछ लोग इस प्रसंग से मन ही मन अत्यधिक प्रसन्न हुए।

पर वीरबल विचलित नहीं हुआ। उसकी उत्पात बुद्धि निखरी और उसने नहले पर दहला रखते हुए कहा—

"हुजूर ? मुझे भी एक स्वप्न आया है—उसका पूर्वार्ध आपके स्वप्न के सदृश ही है किन्तु इसमे आगे भी मैने कुछ और देखा है।"

सारी सभा मे उत्सुकता फैल गई और जानना चाहा कि आगे क्या हुआ ?

वीरबल ने आगे हाल सुनाते हुए कहा—

"जहांपनाह मैं आपको चाट रहा था और आप मुझे चाट रहे थे।"

इस कथा का साराश यही है कि सम्यग्दर्शनी का जीवन वीरबल की तरह होता है जो ससार के विषम व गन्दगी युक्त वातावरण मे रह कर भी सम्यक्त्व रूप अमृत रस का पान करता है और मिथ्यात्वी का जीवन सम्राट की तरह होता है जो अमृत तुल्य उच्च जाति आदि मे जन्म लेकर भी मिथ्यात्व की गन्दगी को ही चाटता रहता

कितने खेद और विस्मय का विषय है कि ऐसे प्रकाशमान सम्यग्दर्शन रत्न को जानते-पहचानते हुए भी वर्तमान मे हम विभिन्न अन्ध-विश्वासो एव कुप्रथाओ से ग्रसित है।

आज का मोह ममत्व से भरा हुआ व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन इतना विकृत हो चुका है कि वह अपने आपको सही रूप मे पहचान ही नही पाता है।

आज हमारी श्रद्धा इतनी विचलित हो चुकी है कि हम जगत् पूज्य, देवाधिदेव त्रिलोकीनाथ अरिहन्तो को छोडकर मिथ्यात्वी देवी-देवो के कुचक्र मे फस गए है। आज हमारी स्थिति ऐसी ही वन गई है जैसे कोई व्यक्ति क्षीर समुद्र के सुस्वादु, मधुर एव सरस जल को छोडकर लवण समुद्र के क्षार-जल से अपनी तृषा शान्त करना चाहता हो। इमसे अधिक और क्या मूर्खता हो सकती है ?

हम सद्गुरुओ से प्रवोधित हो इन जड परम्पराओ से उन्मुक्त वने। पत्थर, पहाड, पीपल, नदी और नालो पर आसन जमाकर वैठने वाले देवी-देवो की पूजा करना छोडें। अन्ध विश्वास एव जड परम्पराओ को झकझोर दे। कुप्रथाओ को तोडकर फेंक दे।

जो रीति रिवाज अच्छे हो वे अगर प्राचीन भी हो तो भी उन्हे स्वीकार करें और यदि आज की प्रचलित मान्यता भी वुरी हो तो उसे सहर्ष त्यागने को तत्पर रहे।

एक वार भी हमारी आत्मा ने मिथ्यात्व से हट कर सम्यक्त्व का रसास्वादन कर लिया तो फिर उसे किसी की प्रेरणा की आवश्यकता नही रहेगी। वह तो स्वय ही आध्यात्मिक रस का पान करने को उस गाडीवान की तरह लालायित रहेगा।

ससुराल पहुँचने पर किसी दामाद का गुलावजामुन जैसे सुस्वादु पक्वान्न से स्वागत किया गया, पर साथ वाला गाडीवान तमका। वह अपनी रखी शर्त पर जोर देकर कहने लगा "मुझे तो 'गुडराव" ही खिलाओ। मैं तो ये 'ऊँट के मीगने नही खाऊँगा। मुझे तो गुडराव" ही खिलाओ।"

"कल खिलाऊँगा।" विश्वास दिलाते जवाई जी ने प्रत्युत्तर

"नही आज ही और अभी ही।"

"कल अवश्य ही खिला दूँगा, अभी आग्रह छोड दो । शान्त स्वर मे दामाद ने समझाया ।

किन्तु' वह अपने हट पर दृढ था । उसने अपनी माग पर अडकर दामाद से लडना प्रारम्भ कर दिया । दोनो की गुत्थमगुत्थी मे दामाद ने गाडीवान् को नीचे पटका और कुछ गुलाबजामुन जिसे वह "ऊँट के मीगने" मान रहा था, मुँह मे डाल ही दिये । थू थू करते हुए भी गाडीवान् को उसका अच्छा मधूर रस चखने का प्रसग आया । वे उसे बहुत स्वादिष्ट लगे और चट से पाहुना से बोल उठा—

"आप हटें, मै स्वय ही इन्हे खालूँगा।"

फिर कभी भी आपको ससुराल आना हो, आप मुझे ही सग मे लाना ।

इसी प्रकार जब ज्ञानी गुरु के द्वारा सम्यग्दर्शन का, अबोध प्राणी, को आस्वादन करवाया जाता है तो वह फिर उसका महान् रसिक बन जाता है ।

अन्ध श्रद्धा जीवन को मलिन बनाती है और सुश्रद्धा जीवन मे चमत्कार लाती है । अन्ध श्रद्धा से प्रेरित हो कमठ तापस गंगा नदी के किनारे पचाग्नितप तप रहा था । यह अज्ञान तप स्वय को भी डुबाता है और दूसरो को भी ।

मिथ्या दृष्टि बहिर्मुखी बन सुख के साधनो को बाहर ढूढता है, पर वह सच्चे सुख को प्राप्त करने मे उस ठग की तरह विफल ही रहता है ।

रास्ते मे किसी धनाढ्य सेठ के सग एक ठग हो लिया प्रसग देखकर सेठ से ठग बोला ।

"धन सम्पत्ति संभाल कर रखना, यहाँ खतरा है ।

बहुमूल्य बटुआ दिखाते हुए सेठ ने कहा—

"मुझे क्या डर है, पुण्य सब की रक्षा करता है।"

ठग कुछ समय साथ रहा। रात्रि को सेठ के सो जाने पर वह ठग उस सेठ के बहुमूल्य बटुए को खोजता। पर आश्चर्य वह बटुआ उसे कही नही मिला। कुछ समय साथ रहने के पश्चात् आश्चर्य चकित हो उस ठग ने कहा—

"सेठजी ! मैं ठग हूँ और इसी उद्देश्य से तुम्हारे सग रहा था, किन्तु बताओ वह बटुआ तुम कहा रखते थे।"

"रात्रि को वह तुम्हारी जेब मे रहता था।" सेठ का प्रत्युत्तर था।

ठग के आश्चर्य का पारावार ही नही रहा। उसने सेठ से कहा—"तुम तो ठगो के भी ठग रहे।"

सेठ ने अपने आपको सभालते हुए बतलाया—"ठग हमेशा दूसरो की ही जेब सभाला करता है, अपनी नही।

हम उस ठग की तरह मूर्ख न बनें। सम्यग्दर्शन को भली भांति हृदयगम कर सही मार्ग पर हमारे कदम यदि सतत अबाधरूप से गतिशील रहे तो हम अपने अभीष्ट लक्ष्य को प्राप्त कर सकेंगे।

हाँ, तो आइये। सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर सच्चे आत्म सुखो के उपभोक्ता बनें।

पर्युषण पर्वाराधना का

तृतीय दिवस

चा
रि
त्र

दि
व
स

ज्ञान एव दर्शन की सम्यक् आराधना के अनन्तर आज का यह तृतीय दिवस चरित्राराधाना का दिन है। आचरण के बिना कोरा ज्ञान कल्याणकर नही है। आज हम बडी बडी बाते करते हैं, गहन अध्ययन मनन एव चिन्तन करते हैं, पर यह कटु सत्य है कि हमारे व्यवहार मे करनी का प्राय अभाव सा है। अत आज का हमारा जीवन सुख-शान्ति से कोसो दूर है। वास्तविक कल्याण के लिए हम जीवन मे सद्आचरण को अगीकृत करे, यही आज के दिवस का प्रयोजन है।

हमने समझ लिया कि हमारे घर मे कूडा-कचरा भरा हुआ है, किन्तु उसे निकाल कर बाहर फेंकने का प्रयास नही किया तो भला बतलाए कि यह जानना क्या अर्थ रखता है।

हमारी ओर एक भयंकर नाग लपका आरहा है और हमने आखो से देखा किन्तु यह देखना क्या मतलब रखता है जबकि उससे अपने आपको अलग हटाया नही ।

अमुक औषध हमारे अमुक रोग का नाशक है यह जाना, किन्तु समय पर दवा का नही किया, बोलिए जानने भर से आपको कौनसा लाभ मिला अर्थात् कहना होगा कुछ भी नही ।

मिश्री बहुत मीठी है, किन्तु आपने जिह्वा पर रखकर चखा नही बताइये क्या मजा है मिश्री मे ?

आपके पास भोजन से "सट" भरा हुआ है और आपको यह भी ज्ञान है कि खाने से भूख मिट सकती है किन्तु उसे खाया नही, तो आप ही कहिए आपकी भूख मिट तो जायगी ? नही, कभी नही मिट सकती है।

यह जानना उस सेठ की तरह होगा। कहा जाता है किसी सेठ के घर मे एक चोर घुसा। सेठानी की निद्रा सहसा टूटी और सेठ को सावधान करती हुई वह बोली—

"पति देव ! घर मे चोर घुसे है।"

"जानू हूँ" सेठ का प्रत्युत्तर था।"

"अरे ! तिजोरी वाले कमरे मे प्रवेश कर लिया है।" सेठानी ने कापते स्वर मे कहा।

"जानू हूँ।"

"तिजोरी के ताले तोड दिये है।"

"जानू हूँ।"

"धन की गाठे बाध रहा है।"

"जानू हूँ।"

"अजी ! देखो, धन की गाठे लिए भाग रहा है।"

"जानू हूँ।"

आखिर हैरान होकर सेठानी ने तमककर रोव भरे शब्दो मे सेठ से कहा—

"जानू जानू कर रचा, माल गयो अति दूर।
सेठानो कहे सेठ ने, थारा जानपणा मे धूर॥"

विना क्रिया के यह ज्ञान कितना हास्यास्प्रद है, यह कहने की कोई आवश्यकता नही।

संयम (चारित्र) तो वह प्राचीर है जो नवीन आने वाले कर्मास्रव को रोक देता है।

"ज्ञान का फल क्या है ?"

श्रुतज्ञान का फल विरति है, चारित्र है। और चारित्र का फल निर्वाण है, अगर सम्यग्चारित्र नही तो हमारी कोई कीमत नही। जैसाकि राष्ट्र कवि मैथिलीशरण गुप्त ने कहा है—

मतिमान हुए, धृतिमान हुए
गुणवान् हुए बहु खा गुरु लाते।
इतिहास भूगोल खगाल पढे,
नित्य न्याय रसायण मे कटि राते।
इस पिंगल भूषण भाव भरी,
गुण सीख गुणो कविता करी घाते।
यदि मित्र चारित्र न चारू हुआ,
धिक्कार है सब चतुराई की बाते।

अर्थात् हमारा चारित्र सम्यक् न बना तो सभी प्रकार की चतुराई व्यर्थ है।

जिसने व्याकरण, छन्द, न्याय, दर्शन, सस्कृत और प्राकृत आदि भाषाओ पर एक छत्र अधिकार कर लिया किन्तु अपने आपको न समझा। ऐसे व्यक्ति के लिए कवि का कथन है—

जहाँ खरो चन्दन भारवाही,
भारस्स भागी न हु चन्दणस्स
(उपदेश माला)

जैसे गधे की पीठ पर चन्दन की बोरिया लाद दी जाय अथवा मिट्टी के ढेले किन्तु गधा तो भार ढोने वाला है। उसे क्या मतलब कि उसकी पीठ पर बहुमूल्य पदार्थ रक्खे हुए हैं अथवा मृतिका पिण्ड। इसी प्रकार जिसने सब कुछ जाना किन्तु अपने आपको नही परखा है तो सब कुछ निरर्थक है।

रात दिन मधुर पक्वान्नो मे सलग्न रहने वाले चम्मच को क्या ज्ञान कि यह मिष्ठान्न है । मिष्ठान्न का सच्चा ग्रानन्दानुभव तो खाने वाला ही ले सकता है।

ग्रहर्निश पुस्तको की सजावट व सभाल मे सतत सलग्न चपरासी को क्या ज्ञान कि इन पुस्तको मे ग्रथाह ज्ञान-विज्ञान का सिन्धु लहरा रहा है, इसकी सच्ची ग्रानन्दानुभूति तो होती है तन्मयता से पढने वाले सक्रिय पाठक को ।

"सा विद्या या विमुक्तये ।"

विद्या वही है जो वन्धन से मुक्त कराती है । कोरे ग्रक्षरज्ञान को हमने कभी महत्व नही दिया । साक्षरता मे सदाचरण की ग्रगर सुवास नही है तो "साक्षरा" पलटकर "राक्षसा" हो सकते है, परन्तु सुसस्कारो से ग्रनुप्राणित साक्षर सरस हो जाता है जो पलट कर भी सरस ही रहता है । इस प्रसग पर एक पौराणिक प्रसग मुझे याद ग्राता है ।

एक वार गुरु द्रोणाचार्य ने युधिष्ठिर ग्रादि सभी विद्यार्थियो को पाठ दिया—

"सत्य वद ।"
क्षमा चर ।"
"विनय ग्राचर ।"

दूसरे दिन सभी छात्रो से पाठ पूछे जाने पर सवने तत्काल सुना दिया, किन्तु युधिष्ठिर चुप रहे ।

रोष प्रकट करते हुए गुरु ने कहा—"तुम सवसे वडे ग्रौर तुम्हे ही पाठ याद नही ।"

"नही ,ग्राचार्य ।"

सखेद युधिष्ठिर का विनम्र उत्तर था ।

ज्ञान के विना मुक्ति नही। जव कभी भी आत्मा वन्धन मुक्त वनेगी तो ज्ञान से ही वनेगी।

कुछ दर्शन ऐसे भी हैं जो केवल क्रिया से ही मुक्ति स्वीकार करते हैं। उनका कथन है—

"क्रियया मुक्ति"
"ज्ञान भार क्रिया विना।"

क्रिया के विना ज्ञान भार भूत है। मुक्ति का एकमात्र कारण क्रिया ही है।

हमारा विस्तृत समन्वय प्रधान जैन दर्शन का यह वज्र घोष है कि—

"मुक्ति जव कभी भी होगी तव ज्ञान और क्रिया के समन्वय से ही होगी। कथनी और करनी एक होनी चाहिए। कथनी और करनी का मेल ही भव वन्धन से आत्मा को छुटकारा दिलाता है।

उस वृक्ष से लाभ ही क्या जो समय पर मधुर एव पौष्टिक फल प्रदान नही करता, ठीक इसी प्रकार उस ज्ञान से फायदा ही क्या ? जो सदाचार का विकास नही करता।

यो तो रावण भी अपने समय का सुप्रसिद्ध वेदविज्ञाता, महान् नीतिज्ञ एव उद्भट पडित था। पर इतिहास साक्षी है कि सदाचार के अभाव मे रावण ने अपना भी अहित किया और साथ-साथ दूसरो का भी।

जैसे प्रभात की वेला मे कमल खिल उठते है, वैसे ही ज्ञान का सूर्योदय होने पर सदाचार का कमल खिलना ही चाहिए इसी मे ज्ञान की सार्थकता है।

तलवार की कीमत म्यान से नही, वल्कि धार से होती है, उसी प्रकार मनुष्य की महत्ता शरीर से नही, चरित्र-वल से है।

"जाति न पूछो साधु की, पूछ लीजिए ज्ञान,
मोल करो तरवार का, पडी रहने दो म्यान।"

जैसे आभूषण की कीमत डिबिया से नही, वैसे ही मनुष्य का मूल्य उसके शरीर के ढाचे से नही अर्थात् तलवार का मोल उसके पानी से है और आभूषणो का मूल्य अपनी अच्छाइयो पर निर्भर है। ठीक उसी प्रकार मनुष्य का मूल्य उसकी चरित्र शक्ति पर आधारित है।

चरित्र प्रत्येक व्यक्ति और प्रत्येक समाज के लिये उतना ही आवश्यक है जितना किसी पौधे के लिये जल। जलाभाव मे पौधा सुरक्षित नही रह सकता है और चरित्राभाव मे व्यक्ति और समाज। कवि रहीम का कथन है—

"रहिमन पानी राखिए, बिन पानी सब सून।
पानी गये न उबरे, मोती मानस चून॥"

"वह ज्ञान ज्ञान ही नही, जिसके उदित होने पर राग समूह चमकते हैं, भला सूर्यकिरणो के समक्ष अन्धकार मे ठहरने की शक्ति कहाँ? जिस प्रकार सूर्य-किरण के समक्ष अन्धकार नही ठहर सकता, उसी प्रकार ज्ञान के प्रकाश मे कषायान्धकार ठहर नही सकता।[1]

"क्रिया हीन का ज्ञान हत (नष्ट) ही समझना चाहिये।[2] ज्ञान के द्वारा ससार और उससे पार होने के उपाय समझे जा सकते हैं किन्तु भवाब्धि से पार होने के लिये तो चारित्र ही आवश्यक है। चारित्र के विना आज तक न तो जीव मोक्ष मे गया है और न जावेगा।

---

१ तज्ज्ञानमेव न भवति, यस्मिन्नुदिते विभाति राग गण तमस कुतोऽस्ति शक्ति दिनकर किरणाग्रत स्थातुम्।

२ हय णाणं किया हीणं।

"ज्ञान से पदार्थो का स्वरूप जाना जाता है, दर्शन से श्रद्धा होती है, चारित्र से कर्मों का विरोध होता है और तप से आत्मा निर्मल होती है।"[१]

मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और योग के निमित्त से आत्म-प्रदेशो पर आगत नवीन कर्मो को रोकने वाला सवर चारित्र धर्म है। यह सवर शास्त्र मे सत्तावन प्रकार का वताया गया है जो इस प्रकार है—

पाच समिति, तीन गुप्ति, दस यति धर्म, बावीस परिषह, वारह भावना और पाच चारित्र।

नवीन कर्मो का आगमन जवतक अवरुद्ध न होगा तवतक मुक्ति कहा ? पर आत्मा के साथ जो प्राचीन कर्म लगे हुए है उनको भी तो क्षय करना आवश्यक है। जैसे तडागस्थजल सूर्य के प्रखर ताप से सूख जाता है, उसी प्रकार आत्मप्रदेश मे अवस्थित प्राचीन कर्म-राशि तपस्तेज से नष्ट-भ्रष्ट हो जाती है। यह तप ही निर्जरा रूप धर्म है जो शास्त्रो मे द्वादश प्रकार का वताया गया है।

चारित्र शब्द की व्युत्पत्ति और अर्थ पर भी हमे ध्यान देना होगा—

"चयस्य रिक्तीकरण चारित्रम्।"

अनादि अनन्त काल से आत्मा पर लगे हुए कर्म मल से अपना पिंड छुडाना चारित्र है।

इसी वात को शास्त्रकारो ने यो कहा है—

एय चयरित्त कर, चारित होई आहिय। (उ० २८।३३॥)

अर्थात्—दीर्घद्रष्टा, सर्वहित कामी, त्रिलोकनाथ श्री भगवान महावीर ने द्विविध चारित्र धर्म प्ररूपित किया है—

१ नाणेण जाणइ भावे, दसणेण य सद्दहे। चरित्तेण निगिण्हाई, तवेण परिसुज्झइ (उ० २८–३५)

आगार धर्म और अनगार धर्म[1] देशत. पाप प्रवृत्तियो से अलग रहना आगार धर्म है और पूर्णत जगत के छल-कपटो के कदमो से मोह के भयकर तूफानो से, विषय विकार की आधियो से मिथ्यात्वादि के झझावातो से अपने आपको बचाये रखना अनगार धर्म है। प्रभु देशकाल के ज्ञाता थे। उन्होने अपने ज्ञानालोक मे दूरदर्शिता से जान लिया कि सब प्राणियो की वीर्य-शक्ति एकसमान नही हो सकती। अत उन सब व्यक्तियो के लिये जो पूर्णत. पच-महाव्रतो की प्रतिज्ञा ग्रहण कर सर्व विरति नही बन सकते, देश-विरति का उपदेश किया। एक सरल और दूसरा कठोर मार्ग था। देर अवेर ही सही, किन्तु लक्ष्य बनाकर चलने वाला व्यक्ति अन्ततो-गत्वा सिद्धि का अधिकारी अवश्यमेव बनता है।

जिस व्यक्ति ने आगार धर्म स्वीकार कर लिया, वह प्राणी धन को, जनको, कुटुम्बको, मकान को व हीरे-जवाहरात को बडा नही मानता। वह बडा मानता है धर्म को, चारित्र को। वह ससार मे रहता हुआ भी जल-कमलवत् निर्लेप और उन प्रपचो से मुक्त होने की कामना रखता है। श्रावक के तीन मनोरथ सुस्पष्ट है। वह उस पर चिन्तन करता रहता है—

१ कब वह अच्छी वेला होगी जब मैं थोडा या बहुत परिग्रह छोडूँगा।

२ कब वह सुन्दर समय होगा जब मैं पंच महाव्रत धारण करूँगा।

३ कब वह मगल क्षण आयेगा जब मैं सलेखना-सथारा करके पडित मरण से अपना अन्तिम समय व्यतीत करूँगा।[2]

१—दुविहे चरित्त धम्मे, आगार चरित्त धम्मे, अनगारचरित्त धम्मे च ॥

२—आरम्भ परिग्रह तजीकरी, पचमहाव्रत धार ॥
अन्तसमय आलोयणा, तीन मनोरथ सार ॥

हमारे प्राचीन आगमके स्वर्णिम पृष्ठो पर चमकने वाले कुछ आगार-धर्मी श्रावको के सुन्दर चरित्र के ये चिरन्तन प्रसग कितने मन भावक हैं—

सामायिक चारित्र की निर्मलतम साधना के रूप मे सुश्रावक पुणिया हम सबके पथ प्रदर्शक हैं। अपने नरक गति को टालने के लोभ मे मगध पति श्रेणिक भी एक दिन पुणिया श्रावक की सामायिक खरीदने हेतु उसकी सेवामे उपस्थित हुए थे। पर वह सामायिक खरीदी नही जा सकी। भगवान महावीर ने उस सामायिक की दलाली मे बावन सोने की डूगरिया बताई थी। उसकी सम्पूर्ण कीमत चुका देना मगध पति के लिये भी असम्भव था। सत्य है शुद्ध चारित्र-पालन कोटि-कोटि स्वर्ण राशि से भी बढकर है, चढकर है।

'उपासक दशाग सूत्र' मे आनन्द, कामदेव, कुडकौलिक, सकडाल, महाशतक आदि का जीवन परिचय मिलता है। ये प्रभु महावीर के विशिष्ट श्रावक हुए हैं। देवो ने आकर इनकी परीक्षाए ली है और ये श्रावक इन परीक्षाओ मे उत्तीर्ण हुए हैं। उनमे से कामदेव का जीवन पढते ही सहसा एक बार रोमाच हो आता है।

ध्यानस्थ पौपधशाला मे ठहरे हुए कामदेव के समक्ष एक मिथ्यात्वी देव ने पिशाच रूप मे प्रकट होकर कहा—

"ह्री श्री, से हीन, मरने का इच्छुक, अय कामदेव! जिनेन्द्र भगवान द्वारा प्ररूपित वीतराग धर्म को छोड दो, नही, तो आज मैं तुम्हे प्राणो से रहित कर दूँगा।

किन्तु, कामदेव अपने चरित्र मे सुदृढ रहे। "तेरे शरीर के इस चमकती तलवार से खण्ड-खण्ड कर दूँगा। मानजा, धर्म छोड दे।" देव का कथन था।

फिर भी कामदेव घबराये नही। देव के इस भयकरातिभयकर उपसर्ग मे भी वे मेरू पर्वत की तरह अकम्प रहे।

कुछ क्षण पश्चात् हाथी रूप मे प्रकट होकर पुन देव ने उन्हे सू ड मे पकड आकाश मे उछाला। पृथ्वी पर गिरने के अनन्तर पैरो से रौदा। फिर भी कामदेव तो अविचल ही रहे।

पुन देव ने सर्प वनकर डंक मारा किन्तु यह परीक्षा भी विफल रही।

एक ही रात्रि मे तीन-तीन दारुण, दुस्सह और विषम उपसर्ग की परीक्षा मे कामदेव मेरु की चूलिका की तरह अटल रहे। परिणाम स्वरूप देव को भी नत मस्तक हो हार माननी पडी। यह है दैवी वल पर आत्म-वल की विजय और चारित्र दृढता का एक अप्रतिम उदाहरण। कवि के शब्द सत्य हुए—

"सव वलो मे श्रेष्ठ है, आत्म वल प्रधान।"

'ज्ञाता धर्म कथाग' सूत्र मे चर्चित अरणक जैसे दृढ धर्मी श्रावक के समक्ष भी एक ऐसा ही उपसर्ग उपस्थित हुआ था जवकि एक मिथ्यात्व धारी देव ने सद्धर्म से विचलित करने के लिये उसकी जहाज को ऊपर उछाली। पर अरणक का बाल भी वाका न हुआ। क्योकि कहा भी है—

"जो दृढ राखे धर्म को, ताहि राखे करतार।'
जो डुवोये धर्म को वह डूवे काली धार।।

अरणक इस परीक्षा की अग्नि मे तपकर खरे स्वर्ण वन कर कुन्दन की तरह निखरे।

मिथ्यात्वधारी देव भी चरणो मे नमित हुआ वन्दन-अभिनन्दन कर अपने द्वारा कृत् दुष्कृत्यो के लिए पश्चाताप के आँसू वहाता स्वर्ग लोक चला गया।

यहाँ 'दशवैकालिक सूत्र' की यह मगल गाथा कितनी साकार वनी है—

"देवावित नमंसन्ति, जस्स धम्मे सया मणो।" (द० १ ,, ,)

अर्थात् जिस व्यक्ति का मन धर्म मे लगा रहता है, देवता भी उसे नमस्कार करते हैं।

इस प्रकार गृहस्थ पाच अणुव्रतो के माध्यम से शिवत्व की सम्यक् आराधना कर अपने धर्म को फलीभूत करते हैं।

चारित्र धर्म का दूसरा स्वरूप है अणगार धर्म। अणगार अर्थात् छूट रहित धर्म। इस धर्म का आराधक साधक पञ्चमहाव्रतधारी होता है। साराश यह है कि वह सवथा, हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और ममत्व वुद्धि से परे हटकर इन्द्रिय, कपाय, मन एवं आत्म दमन मे निरत रहते है। यह अणगार चारित्र है। अणगार के पॉच महाव्रत होते हैं जिनका अत्यन्त सक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है—

१ अहिंसा महाव्रत —जो सर्वथा प्राण (विकलेन्द्रिय) भूत (वनस्पति) जीव (पचेन्द्रिय) और सत्व (चार स्थावर) की मन, वचन और काया से स्वय हिसा करते नही, दूसरो से करवाते नही और करने वाले का अनुमोदन करते नही।

२ सत्य महाव्रत —लोक मे निन्दित और अविश्वास के प्रमुख कारण इस असत्य का त्रिकरण, त्रियोग से त्याग करना, दूसरा महाव्रत है।

३ अचौर्य महाव्रत —जिस वस्तु का जो स्वामी है, उस वस्तु को उस स्वामी की विना अनुमति लेना अदत्त है। साधु इस अदत्त का तीनकरण तीन योग से त्याग करते है।

४. ब्रह्मचर्य महाव्रत —साधुजी और साध्वीजी महाराज इस महाव्रत मे सर्वथा प्रकार से मैथुन का परित्याग कर नव वाट से शुद्ध ब्रह्मचर्य का परिपालन करते हुए इस दुष्कर महाव्रत की साधना करते हैं।

५ अपरिग्रह महाव्रत —अपरिग्रह साधुओ का अन्तिम महाव्रत है। परिग्रह अनर्थ का मूल है। सुख का सुधा स्रोत निर्ममत्व वुद्धि है। अत सयमी साधक वाह्य पदार्थों का उपभोग करते हुए भी,

शरीर, इन्द्रिय और प्राणो के प्रति भी मोह नही करते-तीन करण तीन योग से ।

इस प्रकार अणगार परिग्रह का त्यागी होता है। चारित्र की गरिमा व महिमा शब्दो मे नही आकी जा सकती । इसकी शक्ति अनुपमेय है । भगवान महावीर का स्पष्ट प्रघोष है कि जो भी प्राणी मोक्ष मे गये हैं, जाते हैं और जायेगे, वे सब सामायिक चारित्र के वल से ही जायेगे। इस तथ्य को हम कतिपय निम्न आगमिक प्रकरणो से स्पष्ट करेगे—

"अरे इसने मेरे भाई की हत्या की ।"

"इसने मेरे पिता के प्राण हरणकिये ।"

"यही मेरे पुत्र का घातक है ।"

"अरे इस दुष्ट ने मेरी माता का सहार किया ।"

"अरे वह पापी है, जिसने मेरे पति को समाप्त किया ।"

"अरे यह वही नीच है, जिसने मेरी पत्नी को मारा ।"

इस तरह उन लोगो के द्वारा मुनि को विचित्र प्रकार की ताडना-तर्जना दी जा रही है । गालियो और पत्थरो की वौछारे हो रही हैं किन्तु मुनि समता की सरिता मे निमज्जित थे । कलके दुष्ट आज के शिष्ट व मिष्ठ वन चुके है । वे विष मे भी अमृत सरसा रहे थे । उन्होने दिखाया कि—

"जे कम्मे सूरा ते धम्मे सूरा ।"

कर्म का वन्ध हँसते-हँसते किया तो इसका भुगतान रोते-रोते क्यो ! इस कर्म-कर्ज को मुझे हँसते-हँसते ही चुका देना है ।

छ महिने मे कर्म वन्ध करने वाले उस पराक्रमी पुरुष ने छः ही महीनो मे शाति और क्षमा से मुख पर विना किसी सलवट के अन्त रग्गा के निर्मल भाव से कर्म-शृ खला को तोडकर शिवत्व प्राप्त कर लिया ।

धन्य हैं ये महामुनि। जिनकी क्षमा, सहन-शीलता अनुपम है। विश्व के इतिहास मे उनका नाम सदा-सदा के लिये चमकता रहेगा।

ये मुनि और कोई नही, अन्तकृतदशाग' सूत्र के स्वर्णिम पृष्ठो पर चमकने वाले क्षमावीर महामुनि अर्जुनमाली हैं।

विना आचरण कोरा शुष्क ज्ञान उपहासास्पद है। इसका प्रभाव नगण्य और जघन्य होता है। किसी विद्वान् का यह सार भूत एव अनुभूति पूर्ण कथन सर्वथा समुचित है —

"प्रभाव आचरण का ही पडता है, विद्वत्ता का नही।"
"आचरण का विन्दु, विवेचन के सिन्धु से भी श्रेष्ठ है।"

"एक कण करना, सौ टन कहने से अच्छा है।"

एक प्रचारक जी एक सार्वजनिक सभा मे अहिंसा पर अपना अभिमत प्रकट कर रहे थे। वक्ता महोदय ने विभिन्न धर्मों के प्रभावक उदाहरणो से यह सुस्पष्ट सिद्ध करके वताया कि—

"अहिंसा परम धर्म है।"

उन्होने यह भी वताया कि पश्चिम से भी यह प्रतिध्वनि आई है— "Live and let live" अर्थात् 'जीओ और जीने दो।'

उसके भाषण से सभास्थल हर्ष विभोर था। जनता मत्रमुग्ध वन उनकी तरफ आकृष्ट थी। करतल ध्वनि से सभा-भवन गूज पडा।

महाशय जी का वदन वोलते-वोलते पसीने से तरवतर हो गया। जेव मे हाथ डालकर रुमाल निकाला। असावधानी से उसके सग दो अडे वाहर आ गिरे, देखते ही सभा चकित हो गई। यह क्या तमाशा है ? अहिंसा का इतना जवर्दस्त विश्लेषण करने वाले वक्ता का जो प्रभाव था, वह कपूर की तरह उड गया। वक्ता महोदय की जो उस समय स्थिति हुई वह तस्वीर खीचने लायक थी।

वस्तुतः हमे कोरे गरजने वाले बादलो की आवश्यकता नही है, बरसने वालो की जरुरत है ।

अद्वैतवाद के एक बहुत नामी विद्वान् भारत यात्रा मे घूमते हुए किसी भक्त के घर पहुँचे । भक्त ने पूछा—

"भगवन ! स्नान के लिये जल लाऊँ ?"

"अरे मूर्ख ! समझता ही नही, जहाँ ज्ञानगगा बहती है वहाँ स्नान के लिये जल की क्या आवश्यकता विद्वान ने भक्त से कहा ।

"ठीक महाराज ! मेरी समझ की भ्रान्ति थी ।" भक्त का जवाब था ।"

पर भक्त कच्चा न था । उसने पडित जी को सन्ध्या समय गरमागरम पकौडे का भोजन खूब खिलाकर महाशय जी को सोने के लिए कमरा दिखा दिया । वह कमरा सभी प्रकार की सुविधाओ से सम्पन्न था, किन्तु भक्त ने जान बूझ कर पानी की कोई व्यवस्था नही की । प्रसग देखकर भक्त ने बाहर की साकल भी बन्द कर दी ।

अब तो पडित जी के प्राण प्यास के मारे छटपटाने लगे । उष्ण पदार्थ सेवन के बाद पिपासा की जागृति स्वाभाविक ही है । भक्त से दरवाजा खोलने की प्रार्थना की ।

किन्तु भक्त चुप था ।

बहुत अनुनय विनय के उपरात भी जब भक्त नही बोला, तब पडित जी ने पुन. कहा—

"अरे, मर रहा हूँ । जरा पीने को पानी तो दो भाई ।"

"महाराज आपके पास ज्ञान-गगा बह रही है, उसमे से लोटा भरकर पी लीजिए । दरवाजा खटखटाने की कौनसी आवश्यकता है । भक्त का प्रत्युत्तर था ।

विद्वान् समझ गया । मिला तो सही सेर को सवा सेर । ज्ञान का नशा चूर-चूर हो गया । घमड मिट्टी मे मिलगया । यह ज्ञान का

दुरुपयोग है। पढकर जहाँ विनम्र बनना चाहिये, वहाँ उसने अभिमान कर अपने चारित्र को खोया। कोरे ज्ञान बघारने वालो की दुनिया मे ऐसी ही अपकीर्ति होती है।

चारित्र पारसमणि से भी बढ-चढकर है। चारित्र बल से ही अर्जुन माली जैसे हत्यारे को सुदर्शन ने महान् बना दिया था।

त्यागी-वैरागी जम्बू के आदर्श चारित्र के प्रभाव से प्रभव जैसा कुख्यात निन्दित चोर भी महान् बन गया, जो आगे चलकर जैन शासन के महान् ज्योतिर्धर तृतीय प्रभावक पट्टधर आचार्य बने।

चारित्र सच्चा कोहिनूर हीरा है। इसकी चमक के समक्ष अन्य सभी चमकीले पदार्थ निष्प्रभ हो जाते हैं। इसको खोना अपना सर्वस्व खोना है। इस विषय मे अग्रेजी के एक विद्वान ने भी कहा है—

"अगर धन खोया तो कुछ नही खोया, अगर स्वास्थ्य खोया तो कुछ खोया किन्तु अगर चारित्र खोया तो सब कुछ खोया।"[1]

क्योकि खोया हुआ धन तो कठोर परिश्रम से पुन आसानी से अर्जित किया जा सकता है, विनष्ट स्वास्थ्य भी औषध एव पथ्य आदि सेवन से पुन प्राप्त हो सकता है किन्तु जिस जीव का एक बार चारित्र भ्रष्ट हो चुका है, उस नष्ट चारित्र को पुन. प्राप्त करना असम्भव नही तो कठिन अवश्य हैं।

एक तो वह प्राणी है जिसने कभी सत्चारित्र मे प्रवृत्ति ही नही की। जैसे नवग्रैवेयक जाति के देव मन्द कषायी होने पर भी चारित्रावरणीय कर्म के उदय से कभी भी सत् चारित्र मे पराक्रम कर ही नही सकते।

किन्तु दूसरे वे जीव हैं, जो सदाचार से कदाचार मे प्रवृत्त होते हैं, जैसे पुण्डरीक और कुण्डरीक के जीवन से हम समझ सकते है।

१—If wealth is lost, nothing is lost.
If health is lost, something is lost
If character is lost, every thing is lost.

वर्षो से सयम साधना करने वाले व्यक्ति के अन्तःकरण मे भी विषय कषाय का भूत, जव सवार हो जाता है, तव साधक की साधना, अल्प समय मे प्राय नष्ट भ्रष्ट हो जाती है ।

कुन्डरीक दीर्घकाल (हजार वर्ष) तक सयम साधना करने पर भी जब भोगो मे आसक्त वना, तो तीन दिन के अल्प समय मे ही सातवी नरक मे जाने योग्य कर्म-वध को वाध तैतीस सागर की लम्बी स्थिति तक महान् कष्टानुभव करता रहा ।

यह है असत् चारित्र मे प्रवृत होने वाले व्यक्तियो की दुर्दशा, जिनका जीवन सम्यग्चारित्राभाव मे महान् कष्टप्रद होता है ।

हमारे यहा सदा से सच्चारित्र का, सत्ता, सम्पदा वैभव और विलास से ज्यादा महत्व रहा है ।

एक छत्रचक्रवर्ती सम्राटो के गर्व-खचित, स्वर्ण मडित मुकुट, त्यागी, विराग, सदाचारी सतो के चरणो मे सादर नमित हुए हैं । कवि के शब्दो मे,

"राजा जोगी दोनो ऊँचा, ताम्बा तूम्बा दोनो सुच्चा ।

"ताम्बो डूवो तूम्वो तिरे, इन कारण राजा जोगी के पावा पडे"।।

"आचार प्रथम धर्म है, आचार परम तप है, आचार परम ज्ञान है । आचार से क्या नही सिद्ध होता ।

जैन दर्शन ने आज तक न तो रूप को प्रधानता दी है और न रगको, न जाति को और न कुल को, न धन को और न वलको, न जमीन को और न जायदाद को । जैन धर्म वेष और रूप का पुजारी नही, किन्तु गुणो का पुजारी रहा है । यहाँ चारित्र को ही महानता मिली है । जिसके जीवन मे सयम यानी चारित्र का वाहुल्य था, वही व्यक्ति माननीय, सम्मानीय रहा । फिर भले चाहे वह किसी भी कुल या जाति से क्यो न जन्मा हो ।

इस प्रसग पर हरिकेश वाल मुनि का उदाहरण विशेष महत्व रखता है । उनका जन्म एक हरिजन कुल मे होता है, न रूप न रग

नध न न जमीन, न आदर न सम्मान । वे जीवन से तग आकर मरने को तैयार हो जाते है, किन्तु ऐसो विकट वेला मे भी उन्हे एक सहारा मिलता है। गिरती हुई दीवार को सुरक्षित रखने का एक टेका मिलता है। वह थे पच महाव्रत धारी एक महान् सन्त। उनकी वाणी थी—

'मत मरो"

इस प्रकार मरने से दुख वढता है, घटता नही। चिरकाल तक ससार परिभ्रमण करना पडता है।

उस पर सतवाणी का महान् प्रभाव हुआ, चारित्र के क्षेत्र मे उन्होने अपने कदम आगे वढाये। वे शुद्ध सयमाचरण करते हुए नानाविध लब्धिया प्राप्त कर गये।

घोर और कठोर तप साधना से देव भी उनके अधीन होगय। जिसका विस्तृत विवरण 'उत्तराध्ययन सूत्र' के वारहवें अध्याय मे सुअ कित है।

चारित्र के द्वारा हम भव सागर को तैर सकते हैं। तैरने की कला ही जीवन का सार है। इसके अभाव मे सव वेकार है।

एक दृष्टान्त सहसा मेरी स्मृति पट पर आगया है। एक समुद्री यात्री ने मल्लाह से पूछा—

"क्या तू खगोल-भूगोल जानता है?"
"नही श्रीमान्! मै नही जानता।"
"तेरी पाव जिन्दगी पानी मे गई।"
फिर पूछा—
"तू क्या व्याकरण, छद वगैरह जानता है?"
"नही हुजूर! मैं तो कुछ भी नही जानता हूँ।"
'तेरी आधी जिन्दगी पानी मे व्यर्थ वीती।"
"क्या तू न्याय का विपय जानता है।"

'नही जी नही, मैंने तो आपसे साफ कह दिया है। मै तो कुछ भी नही जानता।"

"तव तो तेरी पौन जिन्दगी पानी मे डूबी।"

इतने मे ही अधड का एक भयकर प्रकोप हुआ। नाव सभल न सकी। वह अतल जल मे डूबने लगी। घबराते हुए मल्लाह ने महाशय जी से पूछा—

"आप तैरना तो जानते है?"

यात्री ने घवराये स्वर मे प्रत्युत्तर दिया—नही भाई नही, मुझे तैरने की कला तो नही आती है।"

मन्दहास से मुस्कराते हुए मल्लाह ने यात्री से कहा—"तव तो आपकी सम्पूर्ण जिन्दगी पानी मे डूबी।"

हमारी सस्कृति का निर्माता चारित्र रहा है। बाहरी साज शृगार चमक-दमक ठाट-वाट कभी नही।

धर्म प्रचारार्थ स्वामी विवेकानन्द एक वार अमेरिका गये। उनकी सीधी-सादी वेपभूषा देख वहा के लोग हसने लगे।

"यह भी कोई सस्कृति है। ढीली धोती और चदरिया लपेटे घूमना।" वे वोल उठे।

स्वामी जी ने मुस्कराते गम्भीर स्वर मे कहा—"भैया। तुम्हारी सस्कृति का निर्माण तुम्हारे दर्जी करते है और हमारी (भारतीय) सस्कृति का निर्माण हमारा चारित्र करता हैं।

पूर्व महापुरुषो के जीवन चारित्र हमे सदा नसीहत देते हैं, सदाचार का पाठ पढाते है।

दण्डकारण्य मे राम की सुकुमारता, सुजनता, और सुन्दरता पर मुग्ध होकर सूर्पनखा ने भोगेच्छा प्रकट की।

राम चाहते तो उसे अपना भी सकते थे। वहाँ कौन देखने वाला था? एकात शात जगह थी। एकाकी सुन्दरी नारी, अत्यधिक

आग्रह और सब अनुकूल साधन । फिर भी राम सदा चार की सरिता मे और कनिष्ठ कर्त्तव्य की गगा मे निमज्जित रहे । यह उनकी महानता की परम कसौटी थी ।

जैसे कसौटी पर सौटची स्वर्ण ही खरा उतरता है, राम उसी प्रकार सदाचार मे खरे उतरे । यह उस युग की बात है, जिस युग मे राजाओ के अन्त पुर हजारो रानियो से भरे रहते थे । राम ने एक पत्नी व्रत धर्म का पालन किया ।

हमारे पूर्वजो का जीवन सयत व नियमित था । वे चारित्र धर्म का सम्यक् आराधन करते थे ।

रघुवश के राजाओ की सदा से यह खूबी रही है कि वे जीवन के तीन भाग तीन पुरुषार्थ (धर्म, अर्थ और काम) की साधना मे पूरे करते थे । किन्तु ज्यो ही चौथी अवस्था उनके सन्निकट आती, जीवन की सध्या को नजदीक देखते त्योही वे तत्काल सभल जाते और निवृत्ति पथ अपना लेते थ ।

उनके जीवन का सुन्दर चित्र कालिदास ने 'रघुवश' नामक महाकाव्य मे अ कित किया है ।

"बचपन मे सम्पूर्ण विद्याओ का अध्ययन करना, युवावस्था मे भोग की अभिलाषा रखना है । वृद्धावस्था मे मुनियो की तरह जीवन-यापन करना और अन्त मे योग-साधना से शरीर का त्याग करना ।'[1]

किन्तु आज तो 'रोज के अन्त मे शरीर का त्याग किया जाता है ।

इस प्रकार ज्ञान और सदाचरण के समन्वय से आज के इस जलते हुए विश्व मे भी सुख शान्ति की सुराह प्राप्त कर सकते है । पर श्रावक के आचार का तो आज निरन्तर ह्रास होता जा रहा है ।

१—शैशवेऽभ्यस्त विद्याना, यौवने विषयैषिणाम् ॥
वार्धके मुनिवृत्तीना, योगे नान्ते तनुत्यजाम् ।

जहा पूर्ववर्ती श्रावक प्रभात की सुमगल वेला मे सामायिक-आराधना वन्दन नियम स्मरण, स्वाध्याय एव प्रार्थनादि धार्मिक अनुष्ठानो मे जीवनयापन करना वहा आज श्रावक उन सब आचार धर्मो को प्राय विस्मृत कर बैठा है । किसी कवि की ये पक्तिया कितनी सचोट है—

"दिन चढ्या खुली नीद अब,
पीने लगे 'बेड' टी लेट ।
हाथो मे अखबार आगया,
मुह मे सुलग रही सिगरेट ।
काफी चाय सिगरेट दोस्त को दे,
फिर आप बनाते वाल ।
पाखाने के बाथ रूम मे,
नहा नहा हो रहे निहाल ॥

राष्ट्रीय चारित्र का पतन आज की सर्वाधिक ज्वलन्त समस्या है, सत् आचरण का अभाव आज की सबसे बडी विडम्बना है । विज्ञान बढा । नित नूतन भौतिक आविष्कारो मे द्रुतगति से प्रगति हो रही है । इस सबके बावजूद भी आज विश्व अशान्त है । हम आकुल-व्याकुल हैं । शान्ति राह से भटक गई है । ऐसा क्यो ? सुस्पष्ट प्रत्युत्तर है—हमारा गिरता आचरण । आज इन्सान जी रहा है पर मानवता सिसकिया भर रही है । कवि के शब्दो मे—

'धर्म हु की ध्वजा टूटी, सत्य हुकी कोठि फूटी,
पाप प्रकट भयो घर-घर मे छाय रह्यो ।
लाज के जहाज डूबे, शील के समुद्र सूखे,
दया के खजाने की कुजी कोई ले गयो ।
साधु को कहा दोष, कह्यो कोई करत नही,
घर घर निशान मनाई को फिर गयो ।
कहे कवि गग, चेतरे अचेत नर,
लाज दया, धर्म बीज अंश मात्र रह गयो ।"

तो आज आत्मिक शान्ति एव विश्व समृद्धि के लिए निर्वाणोन्मुख टिमटिमाते सच्चरित्र के प्रशस्त प्रदीप को सद्वृत्तियो के स्नेह (तेल) से पुन प्रज्वलित करना है। सभी विषम समस्याओ का ही एक मात्र सुखद सुन्दर समाधान है जो वर्तमान परिस्थितियो मे आवश्यक ही नही, प्रत्युत अपरिहार्य है।

चतुर्थ दिवस

त

प

-

दि

व

स

ज्ञान, दर्शन, चारित्र की सुन्दर कडियो मे अगली लडी तप है। आज पर्युषण पर्व का यह चौथा दिवस तप की साधना कराने आया है। तप मानव के त्याग, कष्टसहिष्णुता, एव आत्मशक्ति का परिचायक है, कर्म-निर्जरा का एक प्रमुख साधन है। आज के इस शुभ दिवस के सदेश को समझ हम इस तपोग्नि मे तप अपनी आत्मा को सोना ही नही खरा कुन्दन वनाएँ।

जहाँ यह विचारधारा शरीर-पोषण को ही सब कुछ समझती है। खान-पान भोग-विलास एव आराम ही इसका मुख्य लक्ष्य रहता है। वहाँ आध्यात्मिक दृष्टि वाला आत्माभिमुखी होता है। वह राग से विराग भोग से त्याग, मुक्ति से भुक्ति की ओर कदम बढाता है। त्याग, तप एव सयम उसके मार्ग दर्शक होते हैं।

जैन धर्म तप-त्याग प्रधान है। यहाँ शरीर पोषण आत्म-शोषण माना गया है।

मोक्ष के कारणो मे सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र की तरह सम्यग्तप भी एक प्रधान कारण है प्रकान्तर से मोक्ष-साधना मे दान शील, तप और भाव को महत्व दिया गया है। तप का स्थान दोनो स्थितियो मे उल्लेख्य है।

ऐसा क्यो ?

१—यावज्जीवेत् सुख जीवेत् ऋण कृत्वा घृत पिवेत्।
भस्मी भूतस्य देहस्य, पुनरागमन कुत'॥ (चार्वाक)

इसका एक मात्र कारण यह हो सकता है कि विना तपे कुछ भी नही मिलता। जव भयकर गर्मी पडती है, तभी वर्षा होती है। कवि के शब्दो मे—

"जव सूरज गर्मी करे, तप वर्षण की आस।"

विना कष्ट सहन किये फिर कही भी कुछ नही मिलता। अग्रेजी मे एक कहावत है—

No Pains No Gains

तपना, मिटना नही बल्कि वनना है।

दीपक स्वय जलकर ही प्रकाश वितरित करता है।

अगरवत्ती खुद जलती है तो वातावरण को सौरभमय वनाती है।

वीज जव मिट्टी मे खप जाता है, तभी वृक्ष लहलहाता है।

नीव की ईट जव अधेरे मे अपने अस्तित्व को समाप्त कर देती है, तभी भव्य भवन खडे होते हैं।

आत्मा अनन्त अनन्त काल से जो हमे क्रोधादि कषायो एव कामादि विकारो से अशुद्ध दृष्टिगत होता है, वास्तव मे यह अशुद्ध दशा उसका स्वभाव नही, बल्कि विभाव है। जव विभाव है तो यह अशुद्धि आत्मा से दूर भी हट सकती है और उसे दूर हटाने के लिए आचार्यो ने ज्ञान और तप को प्रमुख माना है।

"चारित्र से आने वाले कर्मो को रोका जाता है तो तप के द्वारा विगत जन्मो के एकत्र पाप को क्षय किया जाता है।"[1]

जिस प्रकार साबुन हमारे शरीर एव कपडो पर लगे हुए मैल को खा जाता है, ठीक इसी प्रकार तप हमारी आत्मा पर लगे हुए कर्म-मल को खा जाता है।

१—चरित्तेण निगिण्हाइ, तवेण परिसुज्झइ।

धर्म का लक्षण बताते हुए आचार्य शय्यभव ने भी—"तप को उत्कृष्ट धर्म का एक महत्व पूर्ण अ ग कहा है ।"[1]

तप को हस से भी उपमित किया जा सकता है। जिस प्रकार हस अपनी चोच के स्पर्श से दूध और पानी को अलग अलग कर देता है। इसी प्रकार तप आत्मा पर लगे हुए कर्म-मल को आत्मा से अलग कर देता है।

"जैसे किसी वडे तालाव का जल, उसका रास्ता रोक देने से सिचाई करने से एव सूर्यादि के ताप से क्रमश सूख जाता है, इसी प्रकार सयमशील मुनि के द्वारा पाप कर्म रोक दिये जाने पर करोडो जन्मो के सचित पापकर्म तप से क्षीण हो जाते है।"[2]

भगवान महावीर ने कितना सुन्दर फरमाया है—

"तवसा धुणइ पुराण पावग ।"

(द० उ० ६ उ० ४ गा० ४)

तप से प्राचीन कर्मों को नष्ट किया जाता है।

"इच्छा का निरोध करना तप है।"[3]

इस प्रकार शास्त्रो मे तप की परिभाषा का विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है।

जैनागमो मे तप को मुख्य रूप से दो भागो मे विभक्त किया गया है—

१—धम्मो मगल मुक्किट्ठ, अहिसा सजमो तवो। (द० १ –१)

२—जहा महातलागस्स, सन्निरुद्धे जलागमे ।।
उस्सिचणाए तवणाए, कमेण सोसणा भवे ।
एव तु सजयस्सावि, पावकम्म निरासवे ।
भव कोडि सचियकम्म, तवसा निज्जरिज्जइ ।। (उ अ ३० गा) (५–६)

३ इच्छा निरोहो तवो ।

३ भिक्षाचरी—जीवन चलाने के साधनो मे कमी करना वृत्ति सक्षेप या भिक्षाचरी तप कहलाता है। जैसे एक दाती दो दाती आदि ग्रहण करना तथा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव सम्बन्धी कोई अभिग्रह ग्रहण करना।

४ रस परित्याग—रसना-इन्द्रिय को वश मे करना इस तप का मुख्य लक्ष्य है। इस तप मे मधुर, तिक्त आदि रसो का परित्याग किया जाता है। महात्मा गाधी का स्वाद जय तप भी इस तप मे सन्निहित हो सकता है।

५ काय क्लेश—मानव को कष्ट सहिष्णु एव सहनशील बनाने मे यह तप सहायक है। आसन आदि करना लोचादि करना तथा शीत तापादि सहन आदि इस तप के अग हैं।

---

२. सो तवो दुविहो वुत्तो, बाहिरब्भन्तरो तहा।
बाहिरो छव्विहो वुत्तो, एवमब्भन्तरो तवो।

६ प्रति सलीनता—इन्द्रिय, कषाय और योग को, जो मानव को सत्पथ मे भ्रमित कर देते हैं, वश मे करना अन्तिम बाह्य तप प्रति सलीनता है।[१]

शारीरिक तप ही अपने मे परिपूरित नही हैं, अन्तर्मन को सुदृढ करने के लिए जैन धर्म ने आन्तरिक तप का-स्वरूप भी सामने रक्खा है।

२ अन्तरग तप—मन के विकारो पर विजय मिलाना आभ्यन्तर तप के नाम से कहा जाता है। उसके भी छ भेद शास्त्रो मे उपलब्ध होते हैं, जो इस प्रकार हैं—

१ प्रायश्चित—साधक से स्खलना होना सहज है पर अपनी भूल को गुरु के पास सरल हृदय से प्रकट कर पश्चाताप करना प्रायश्चित नाम का तप है।

२ विनय—धर्म वही है जहाँ सरलता है, नम्रता है। गुणी एव पूज्य पुरुषो का सम्मान बहुमान करना विनय तप है।

३ वैय्यावृत्य—सेवा किसी भी धर्म का मूल मंत्र है। आचार्यादि की सेवा करना वैय्यावृत्य नाम से जाना जाता है।

४ स्वाध्याय—वाचना, पृच्छना, परिवर्त्तना, अनुप्रेक्षा एव धर्म-कथा ये पच विधि आचरण स्वाध्याय तप मे सम्मलित हैं।

५ ध्यान—चचल मन को वश मे कर केन्द्रित करना ध्यान तप कहलाता है।

६ व्युत्सर्ग—इस अन्तिम अन्तरग तप मे काया से ममत्व बुद्धि हटाई जाती है।[२]

---

१ अणसण मुणोयरिया, भिक्खायरिया य रस परिच्चाओ। काय किले सो सलीणया य बज्झो तवो होइ।

२ पायच्छित्त विणओ, वेयावच्च तहेव सज्झाओ।
झाण च विउस्सग्गो, एसो अब्भिन्तरो तवो।

"रोज गधा जैसा चर, किन्तु एकादशी तो कर।"

बौद्ध ग्रन्थ सयुक्त निकाय मे एक कथन मिलता है—

"तप और ब्रह्मचर्य बिना पानी का स्नान है।"[1]

इस्लाम धर्म मे रमजान के महिने मे वे अपने ढग से एक महिने भर तक तपस्या करते हैं।

मुहम्मद साहब का 'कुरान शरीफ' मे स्पष्ट कथन है—

'भूखे रहे विना भूखे व्यक्ति को पीडा हम कैसे जान सकते है—

पर जैन धर्म मे तप-साधना का जो सर्वांग सम्पूर्ण विवेचन एव महत्व है वह अन्यत्र कहीं भी दुर्लभ है। वस्तुत जैन धर्म का सर्वोच्च तप अनुपम है।

हमारे चरम आराध्य तीर्थंकरो का पुनीत जीवन तप से परिपूरित है।

भगवान ऋषभदेव ने एक हजार वर्ष तक छद्मास्थावस्था मे विविध प्रकार के तप किये।

श्रमण भगवान महावीर ने पूर्व जन्म मे नन्दन भूपति के भव मे ग्यारह लाख साठ हजार मासखमन किए थे। भगवान् महावीर का यह तप बहुत ही उग्र था। आचाराग आदि सूत्रो से महावीर के तप का वर्णन सुन रोमाच हो आता है। कारण, महावीर के कर्म भी महान् कठोर बन्धे हुए थे, अत उन्हे तोडने के लिए कठोर तप की महती आवश्यकता थी।

महावीर के साधको का तप भी वडा गजब का रहा है। अनुत्तरोपपातिक, अन्तकृत् दशाग और भगवती सूत्र के पृष्ठो पर आज भी उनका तपोमय जीवन सुरक्षित है। ये तप कई प्रकार के हैं जैसे—कनकावली, रत्नावली, मुक्तावली, एकावली, लघुसिंह निष्क्रीडित,

---

१—तपाच ब्रह्मचर्यं च त सिनान मनोदक ॥ (सयुक्त १।१।५८)

तप से हम घोरातिघोर कर्मों को क्षय कर सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो सकते हैं। हत्यारे अर्जुन माली का घोर तपश्चरण इस तथ्य का ज्वलन्त प्रतीक है।

कुल और जाति से हीन एवं तिरस्कृत व्यक्ति भी यदि तप तेज से सुशोभित है तो वह हरिकेश बल मुनि की तरह नर देव आदि सबका वन्दनीय बन जाता है।

'मनुस्मृति' मे भी कहा है—

'तपके माध्यम से मनोगत मलिनता नष्ट होती है।'[1]

'वाल्मीकि रामायण' मे भी तप की प्रशसा करते कहा है—

"निश्चय करके तप परम कल्याण करने वाला है"[2]

"जिसको तैरना कठिन है, जिसे प्राप्त करना मुश्किल है, जो दुर्गम और दुष्कर है, वह सब कठिन कार्य भी तप के द्वारा सिद्ध किया जा सकता है। निश्चय ही तप के प्रभाव से सब कठिनाइयों को पार किया जा सकता है।"[3]

कई मानवो की यह धारणा है कि तप-साधना करने से शरीर दुर्बल होता है। हाथ-पैरो मे कमजोरी आती है। यह धारणा गलत है, भ्रमपूर्ण है। आज के विज्ञान ने भी इस बात को सिद्ध करने का प्रयास किया है कि तप करने से आदमी नीरोग होता है उसका आत्म-बल बढता है और उसका आन्तर सौन्दर्य कुन्दन की भांति उठता है। प्राकृतिक चिकित्सको का यह अनुभव पूर्ण विचा

धनार्थी धन कमाने के नशे मे दिन भर भूखा रहता है, आत्म ज्ञानियो की दृष्टि से उसका यह भूखा रहना तप नही है क्योकि इन तीनो की यह आत्मसाधना ससाराभिमुख है। अपना स्वार्थ सीधा करना है। अत यह तप नही, कर्मनिर्जरा नही, कर्म बन्ध है।

"निर्दोष कामना रहित और केवल निर्जरा के लिए सद्वुद्धि के साथ दिल के उत्साह से तप करना शुभ एव प्रशस्त तप माना गया है।[1]

तप करके किसी प्रकार के फल की इच्छा करना निरी मूर्खता है। 'सूत्र कृताग सूत्र' की सूक्तियो मे प्रभु महावीर ने क्या ही सुन्दर भाव व्यक्त किये है—

"तप के द्वारा पूजा प्रतिष्ठा की अभिलाषा नही करनी चाहिए।[2]

आचार्य शय्यभव ने भी इस तप के प्रवृत्ति एव निवृत्ति दोनो प्रकार के पथ का प्रदर्शन किया है—

'इस लोक की कामना (पूजैषणा, धनैषणा, लोकैषणा) के लिए परलोक की कामना (इन्द्र,अहमिन्द्र, चक्रवर्ती आदि) के लिए तथा कीर्ति श्लाघा, प्रशसा के लिए तप करना निषिद्ध है। एकान्त निर्जरा यानी कर्म वन्ध को काटने का सकल्प रखकर तप करना चाहिए।"[3]

१—निर्दोष निर्विदानाढ्य तन्निर्जरा प्रयोजनम्।
चित्तोत्साहेन सद् वुद्धया, तपनीय त शुभम्॥

२—नो पूयण तवसा आवहेज्जा।(सू०१।७।२७)

जैसे किसान को खेती करने पर अभीष्ट फल धान्य की प्राप्ति तो होती ही है किन्तु उसके साथ पराल भी प्राप्त होता है इसी प्रकार आध्यात्मिक साधक को तप साधना करने पर परम पद मोक्ष की प्राप्ति मुख्य फल है और उसके साथ अभ्युदय आदि की प्राप्ति पराल की तरह होती है। अत हमे तप किसी प्रकार के फल की इच्छा से नहीं करना चाहिए।

हमारा तप निष्कपट होना चाहिए। कपटपूर्वक किया गया तप भी हमे लाभ से वचित रखता है।

इस प्रसग मे 'ज्ञाता धर्म कथाग सूत्र के पृष्ठो मे एक सुन्दर उदाहरण आता है—

हमारे परम आराध्य उन्नीसवें तीर्थंकर श्री मल्लिनाथ भगवान को स्त्री वेद का बन्ध भोगना पडा। उसका कारण यही था। उन्होने अपने पूर्व भव मे महाबल के जीवन मे तप का आराधन, अपने साथियो मे छल करके किया था।

कुछ शैथिल्य अवश्य आगया है किन्तु नारी के कदम आज भी ज्यो के त्यो आगे है।

वर्तमान समय मे हमारी नारी जाति मे विभिन्न प्रकार के (अठाई, मास खमण वर्षी तप, चन्दन वाला का तेला, सुख तेला, रस तेला, प्रदेशी राजा के वेले आदि) तप किये जाते है किन्तु आज तप का रूप वडा विकृत हो गया है। तप मे कर्मनिर्जरा के प्रति जो एकान्त उत्साह व आनन्द होना चाहिए, वह आज अनेक रूढियो, प्रलोभनो व प्रदर्शनो मे ही रह गया है। हम सामान्यत व्यवहार मे अपनी वहिनो की दृष्टि डालकर देखते है तो तप के मूल मे विशेप प्रलोभन प्रवृत्ति वढती प्रतीत होती है। किसी वहिन को तपश्चरण के प्रति आकर्पित किया जाय तो कभी-कभी वह ऐसा कहती हुई मालूम होती है कि—

"महाराज मुझे अठाई अवश्य करना है, किन्तु पहली वार ही कर रही हूँ। इसलिए सास ससुर, माता पितादि कहते है कि इस समय हमारी स्थिति ठीक नही है। अभी हमने और-और खर्च भी निकाले हैं। अभी हमने कई प्रसगो पर विपुल मात्रा मे व्यय किया है। अत इस साल नही, अगले साल कर लेना।

प्रलोभन की ये वाते सुनकर वहिनो का मन पिघल जाता है, और वे सोचने लगती हैं वास्तव मे ये लोग ठीक ही कहते है। इस परिस्थिति मे तप करने से न तो पूरा लाड प्यार ही मिलेगा और न पीहर से ही सुन्दर वस्त्राभूपण आवेगे, न मधुर गाजे-वाजे ही वजेगे और न अनेक प्रकार (नारियल, लड्डू, पतासा आदि) की प्रभावना ही दी जावेगी। समाज ठीक ढग से जान भी नही पावेगा कि अमुक घर मे तपस्या हुई है।

तप कर्म करते समय जहा हमारी यह पवित्र भावना होनी चाहिए कि आरम्भ परिग्रह कैसे कम हो, वहा आज तप के नाम पर असीम आरम्भ परिग्रह वटाये जा रहे है। तप के नाम पर प्रीतिभोज

दिये जाते हैं। जिनमे हजारो रुपये खर्च हो जाते है, हजारो ही रुपये प्रभावना मे पूरे हो जाते हैं, हजारो ही रुपयो का माल पीहर से ससुराल आता रहता है। सैकडो रुपये वाजे-गाजे मे खर्च हो जाते हैं। साज-शृंगार की दृष्टि से विचार किया जाय तो अनेक प्रकार के वस्त्राभूषण तप करने वाले भाई-बहिनो के वदन पर लादे जाते है। ये सव प्रवृत्तिया तप मे विकार होने से त्याज्य हैं। तप की सार्थकता तभी है जव आत्मा को भी इस प्रकार सजाया जाय और पुष्ट किया जाय।

तप की शोभा दान से है। विना दान के तपस्या नगी है। तप के सुन्दर क्रम मे अगर दान का सुन्दर पुट मिल जाय तो स्वर्ण मे सुवास है। अभिमान तप का दूषण है। तपस्वी को क्रोध पर विजय प्राप्त करनी चाहिए। अभिमान युक्त सव तप व्यर्थ है। घोर तपस्वी वाहुवली को केवल ज्ञान मे अभिमान ही वाधक रहा।

आज हमारे समाज मे तप करने की एक विशिष्ट परम्परा तो है पर तप के साथ जिस दान, दया, सामायिक, स्वाध्याय ज्ञान ध्यान, सुन्दर-आचार विचार आदि की प्रवृत्ति का होना अतीव आवश्यक है, उसका धीरे-धीरे लोप होता जा रहा है। हम उपवास तो करेगे, दिन भर भूखे भी रहेगे पर क्रिया की ओर प्रवृत्त न होकर व्यापार धन्धे मे ही लगे रहेगे। वहिने भी उपवास, वेले तेले आदि करेगी पर स्वाध्याय व ध्यान आदि क्रियाओ मे विशेष प्रवृत्त न होकर दैनिक घरेलू क्रियाओ मे ही फसी रहेगी। यह दृष्टिकोण वदलना चाहिये। केवल तपस्वियो की गिनती मे आजाना ही पर्याप्त नही है। उसके शुद्ध स्वरूप को आत्मसात् करना ही मुख्य वात है। उपवास की वास्तविक परिभाषा क्या है ? इस पर भी हमे ध्यान देना है। ऋषि-महर्षियो ने अपनी वाणी मे स्पष्ट कहा है—

जिनमे तीन चीजो का (१) कषाय (२) विषय और आहार का त्याग हो उसे ही उपवास समझना चाहिए। यदि इन तीनो का

त्याग नही किया तो यह एक प्रकार का लघन ही होगा ।"[1]

अतः तपस्या करते समय पूरी सावधानी और जागरूकता की आवश्यकता है। यदि विवेकपूर्वक तप किया गया तो निश्चय ही हमारी आत्मा तप का सस्पर्श पाकर कुन्दन की भाँति निखर उठेगी।

हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि श्री सुमित्रानन्दन पन्त ने मन को सम्बोधित करते हुए यही कहा है—

"तप रे मधुर मधुर मन ॥"

---

१ कषाय विषयाहाराणा त्यागो यत्र विधीयते ।
उपवास स विज्ञेयः, शेष लघनक विदु ॥

पांचवां दिवस

दान दिवस

"आज मानव भौतिक सुख मे आकठ निमज्जित है। वह धन को ही सब कुछ समझ बैठा है। तृष्णा मानव की दिन पर दिन बढती ही जा रही है। पर जिसे वह सुख समझ बैठा था वह सुखाभास ही निकला। मकडी की तरह अपने द्वारा बनाये गये परिग्रह के जाल मे वह स्वय ही फस गया। मानव आज इस परिग्रह के कारण आकुल व्याकुल है। धन के सग्रह मे नही, पर वितरण मे प्रसन्नता है। धन के ममत्व को हटाकर अपरिग्रह की दिशा मे कदम बढाना ही सुख शान्ति का राजमार्ग है। अपरिग्रह का एक सुन्दर रूप दान है। पर्युषण का आज पाचवा दिवस मनुष्य को यह गुण अपनाने का सदेश देता है हम इसे समझें और करे।"

५ दान

भारतीय सस्कृति सदा से दान एव त्याग प्रधान रही है। यहा के लोगो ने प्रसग उपस्थित होने पर तन दिया है, धन दिया है, मन की शुभ भावना दी है, शरणागत की रक्षा के लिये रक्त मास ही क्या जीवन देने मे भी सकोच नही किया। एक ही शब्द मे कहना चाहे तो हम यो कह सकते है कि भारतीय सस्कृति के उपासको ने कभी-कभी तो अपना सर्वस्व भी परोपकार मे हसते हसते समर्पण कर दिया है। यह है हमारी पवित्र सस्कृति जिस पर हम ही नही दुनियाँ चकित व गर्वित है।

भारतीय सस्कृति के ऋषिमुनियो ने और हजारो धर्म ग्रन्थो ने मानव की महत्ता के गुणगान मुक्त कठ से किए हैं। सब तरह के जन्मो मे मानव जन्म को ही अत्युत्तम कहा है और साथ अति कठिन भी। शास्त्रकार के शब्दो मे—

"मनुष्य जन्म बहुत ही दुर्लभ है।"[1]

मानव की उस महानता का एक मात्र कारण है सत्य, सदाचार, दान, दया, क्षमा, सहनशीलता, विनय और बहुमान आदि सदगुण इन सदगुणो से मानव ने स्वर्गलोक मे रहने वाले देवो को भी मानव बनने के लिये प्रेरित किया है। वे भी तडफते हैं और छटपटाते है कि कब हम भी भारत भूमि मे जाकर जन्म ले और मानव बनें। मानव का जीवन देवो के लिये भी स्पृहणीय है। वे कहा करते हैं :—

"गायन्ति देवा किल गीतकानि,
धन्यास्तु "ये भारत भूमिभागे।"

---

[1] दुल हे खलु माणुसे भवे ॥

दान की महिमा एव गरिमा अकथनीय है। त्याग, समर्पण और विसर्जन आदि दान के ही पर्याय हैं जिसके अभाव मे मानव नगण्य रहेगा।

अथाह समुद्र मे निमज्जित व्यक्ति को साधन-शक्ति होते हुए नही वचाना जैसे पाप है ठीक उसी प्रकार वैभव सम्पन्न होने पर भी किसी दीन-दुखी का दर्द नही मिटाना भी भयकर पाप है।

जैसे किसी ईमानदार सद्गृहस्थ के समीप रखा हुआ वहुमूल्य द्रव्य भी सुरक्षित रहता है और मागने पर विना किसी बाधा के तत्काल उपलब्ध हो जाता है ठीक उसी प्रकार दान मे दिया हुआ द्रव्य भी सुरक्षित रहता है।

मील के शेयर होल्डर (भागीदार) को तो कभी हानि भी उठानी पडती है किन्तु धार्मिक क्रिया सत्पात्र के दानी को तो सर्वत्र नित नूतन लाभ की सुप्राप्ति होती है।

"सग्रह करने वाला व्यक्ति प्राय करके समुद्र के रसातल को प्राप्त करता है किन्तु दाता मेघ की तरह सबके ऊपर गर्जना करता है।"[१]

महाभारत पर्व ५ अ० ३३ श्लोक० १०४ मे भी दान का महत्त्व उभरा है।

"बुद्धि, कुलीनता, इन्द्रिय-निग्रह, विद्या पराक्रम, भाषा, कृतज्ञता और दान देना इन आठ गुणो से पुरुष दीप्तिमान हो

विद्वानो ने धन की गति को तीन भागो मे विभक्त किया है—

'खाना, खिलाना और नाश। दान और भोग मे इसका सदुपयोग नही किया गया तो नाश तो अवश्यभावी है।"[1]

अत एक हाथ से खाओ तो दूसरे हाथ से खिलाओ।

कहा जाता है कि एक बार ब्रह्माजी के पास देव-गण पहुचे और याचना करने लगे—

'प्रभो! हमे कुछ दीजिये।"

उन्होने कहा "द"

"द" अर्थात् तुम अपने विलासी जीवन पर नियन्त्रण करो यानी स्वच्छन्द इन्द्रियो का दमन करो इससे सुखी बनोगे।

जब देवो के वहा पहुचने के समाचार दानवो को मिले तो भला वे पीछे कैसे रह सकते थे? दौड-दौड वे भी ब्रह्मा के पास पहुचे और कुछ विनम्र शब्दो मे प्रार्थना की—

विधाता ने इनसे भी कहा—"द" अर्थात् तुम बहुत उद्दण्ड प्रकृति के हो अत तुम्हे दया करनी चाहिये। यही कल्याण का सीधा राजमार्ग है।

देव और दानवो ने जब ब्रह्माजी से वरद प्राप्त कर लिया तब भला यह बात मानवो से कैसे छिपी रह सकती थी? उन्हे भी इस रहस्य का पता चला और वे भी पवन गति से वहा पहुँचे और लगे सुख के साधन की प्रार्थना करने।

ब्रह्मा ने कहा—

"द" अर्थात् तुम्हे दान देना चाहिये। यही शान्ति की सच्ची राह है। यह पौराणिक प्रसग स्पष्ट करता है कि मनुष्य को अपने धन का मुक्तहस्त से दान करना ही हितकर है।

१—धन की गति तीन है, दान भोग अरु नाश।
दान भोग मे ना लगे तो, निश्चय होय विनाश॥

जिस मानव ने जीते जी अपने हाथो से दान नही दिया, उस मानव तनकी हीनता के लिये कवि भी जम्बुक-श्रृगाल को सम्वोधित करके कहता है—

हे जम्बुक ? सहसा इस नीच और निन्दित पुरुष के शरीर को छोड क्योकि इसने अपने हाथो से दान नही दिया।"[1]

तुलसीदास जी ने भी कहा है—

"तुलसी जग मे आय के करलीजे दो काम।
देने को टुकडो भलो, लेने को हरिनाम।"

जैनागमो मे दान के मुख्य दो प्रकार उपलब्ध होते है—

अभय और सुपात्र दान

'सूत्रकृताग सूत्र मे वीर स्तुति करते हुए एक स्थल पर कहा गया है—"सब प्रकार के दानो मे अभय दान प्रधान है।"[2]

जीवन प्रिय और मरण सबको अप्रिय लगता है अत मरते प्राणी को अपना सर्वस्व समर्पण करके भी बचाना अभयदान है, और अपने से भयभीत होते हुए जीवो को निर्भय करना भी अभयदान है।

शास्त्रकारो ने कहा है "सभी जीव जीना चाहते हैं, मरना कोई नही।"[3]

हिंसा से प्रति हिंसा का जन्म होता है। अत स्वय निर्भय रहना और भयभीत को निर्भय बनाना आवश्यक है।

इस अभय दान की सर्वोच्च शक्ति से अनेको जीवो ने ससार के भ्रमण को कम अथवा समाप्त कर दिया है। इस प्रसग मे एक दृष्टान्त उल्लेख्य है—

१—हे जम्बुक मुञ्च मुञ्च सहसा नीचस्य निन्द्य वपु ॥
२—दाणाण सेट्ठ अभयप्पयाण।
३—सव्वे जीवा वि इच्छन्ति, जीविउ न मरिज्जिउ।

उतार देना कहा का न्याय है ? मेरे लिये यह विवाह श्रेयस्कर नही होगा। तत्काल निर्णय किया पशु पक्षियो के बन्धन काटे। हजारो व्यक्तियो की मनौतिया धरी ही रह गयी और वे त्याग के मगल मार्ग पर चल ही पडे।"

दूसरा दान है सुपात्र। सु = श्रेष्ठ। पात्र = भाजन। अच्छे भाजन मे दिया गया भोजन अत्यधिक लाभदायक होता है। जैनागमो मे सुपात्र को तीन भागो मे विभक्त किया है। वे है—१ सम्यग्दृष्टि २ देशविरति श्रावक और ३ सर्वविरति साधु।

जघन्य सख्या के सुपात्र चतुर्थ गुणस्थान वर्ती अविरति सम्यग्दृष्टि जीव है। जो जीव वीतरागदेव, निग्रन्थ-गुरु और केवली भाषित धर्म पर दृढ श्रद्धा रखता हुआ भी चारित्रावरणीय कर्म के उदय से व्रत ग्रहण नही कर सकता किन्तु लोक, अलोक, स्वर्ग, नरक, पुण्य, पाप, आत्मा और परमात्मा पर अटूट श्रद्धा रखता है वह भी सुपात्र माना गया है। उन्हे देने से भी निर्जरा होती है।

मध्यम श्रेणी के सुपात्र श्रावक गिने जाते है, जो जीवाजीवादि नव तत्त्व और पच्चीस क्रियाओ के जानकार होते है। चारित्रावरणीय कर्म के अ शत क्षयोपक्षम से देशत हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह का त्याग कर मर्यादित जीवन मे जीते है। वे अणुवृति सुपात्र कहे जाते है। उन्हे देना भी निर्जरा का हेतू है।

तरह के सुपात्र का सुयोग उपलब्ध हो तब हमे अत्यन्त हर्षित हो प्रमोद भावना से देना चाहिये और सर्व विरति साधु-साध्वी का अगर सुप्रसग प्राप्त हो तब तो अत्यधिक प्रमुदित भाव से चौदह (अशन, पान, खादिम स्वादिम वस्त्र, पात्र, कम्बल, रजोहरण पीठ, फलक, शय्या, सस्तारक, औषध और भेषज) प्रकार के पदार्थ देने चाहिये।

देते समय चित्त, वित्त और पात्र की शुद्धता आवश्यक है। चित्त=देने वाले दाता का मनशुद्ध, उदार एव निष्काम होना चाहिये। वित्त=जो वस्तु दी जा रही है वह भी बयालीस अथवा सैतालीस दोष रहित प्रासुक एव शुद्ध होनी चाहिये। पात्र=लेने वाला भिक्षुक भी ज्ञान-क्रिया सम्पन्न शुद्ध होना चाहिये। जब इस त्रिपुटी का सगम होता है तब कार्य-सिद्धि अविलम्ब होती है।

देते समय हमारे अन्त करण मे प्रति बदले की भावना नही होनी चाहिये क्योकि शास्त्रकारो ने कहा है—

'निस्वार्थ भाव से देने वाला दाता, और सयम निर्वाहार्थ लेने वाला भिक्षु ये दोनो दुर्लभ होते है। निस्वार्थी दाता और मुनि मोक्ष के अधिकारी होते है।'[1] इस विषय मे सगम ग्वाले का दृष्टान्त द्रष्टव्य है।

बडी कठिनता से उपलब्ध खीर को पाकर सगम ग्वाले का मन-मयूर हर्षोन्मत्त था। वह हर्ष विभोर हो किसी सयमी मुनि की प्रतीक्षा कर रहा था। नीति का वाक्य है कि—

"जैसी जिसकी भावना होती है उसको वैसी ही सिद्धि मिलती है।"[2] सगम को भी मासखमण के एक घोर तपस्वी का सुयोग मिला। फिर क्या था? प्रमोद भावना उमड पडी। गुरु चरणो मे पहुचा। प्रार्थना की—

"प्रभो ! मुझे तारिए। पूर्व जन्म मे मैंने किसी भी तरह का सुकृत्य नही किया। किसी दीन दुखी को कुछ नही दिया। परिणाम यह रहा कि मैं चाहता हुआ भी इच्छित पदार्थों को प्राप्त नही कर सका। आज सुयोग मिला है। गुरुदेव इस कठिनोपलब्ध खीर को प्राप्त कर मुझे कृतार्थ कीजिए।"

मुनिराज को भी आवश्यकता थी। अत खीर ग्रहण कर वे पुन अपने स्थान को लौट गए। किन्तु उत्कृष्ट भावना से देने वाले उस दाता ने तो ससार को सीमित किया और आगे जाकर वह महान ऋद्धि का उपभोक्ता बना। यह और कोई नही, किन्तु अपने विराट ऐश्वर्य बल से मगध सम्राट को भी आश्चर्यान्वित करने वाला राजगृह नगर के गोभद्र श्रेष्ठी का सुपुत्र शालिभद्र है। जिसने एक दिन मगधेश को भी (क्रेय) किराना बनाया था। यह है सुपात्र दान की महिमा।

'सुखविपाक' सूत्र मे वर्णित सुबाहुकुमार आदि के दृष्टान्त भी हमे यही बतलाते है कि सुपात्रदान मोक्ष प्राप्ति का एक अमोघ उपाय है।

सिर्फ द्राक्षा का धोया हुआ पानी देकर राम राजा ने अपने जीवन मे ससार परिमित किया और तीर्थंकर नाम गोत्र का बन्ध किया जो आगे जाकर बावीसवे तीर्थंकर भगवान नेमिनाथ के रूप मे प्रकट हुए।

वलभद्र मुनि के साथ सम्वन्वित हरिण ने कव दान दिया था । किन्तु उसका उदाहरण हमे यह वताता है कि उसने पवित्र भावना के माध्यम से ही पाचवे ब्रह्मदेवलोक को प्राप्त कर लिया ।

सुपात्रदान के वल से ससार को सीमित करने वाले एक दो उदाहरण नही किन्तु हजारो दृष्टान्तो से हमारे आगमो के स्वर्णिम पृष्ठ आज भी चमक रहे हैं । गीताकार श्रीकृष्ण ने दान को तीन भागो मे विभक्त किया है । वे हैं १राजसदान २ तामसदान और ३ सात्विक दान ।

सज्जनो को, हितैषियो को एव प्रियजनो को प्रीत्यर्थ देना राजस दान है ।

वैश्या आदि के नाच-गान पर खुश होकर अहकारवश या मनोरजनवश देना तामसदान है ।

किन्तु, इन दोनो प्रकार के दानो मे सात्विक दान ही सर्वोत्कृष्ट है । उसकी परिभाषा करते हुए भी गीताकार श्रीकृष्ण ने कहा है—

"उपकार का सम्बन्ध छोडकर उचित देश, काल और पात्र मे दिया जाने वाला दान ही सात्विक कहलाता है ।'[1]

दान श्रावक के जीवन का प्रधान गुण है । द्वादश व्रतो मे यह अन्तिम व्रत है । शास्त्रो मे कहा है—

'सविभाग के बिना मुक्ति नहीं होती ।'[2]

करता है। एक भाग से वह विराट दान शाला खोलता है और जो भी उसके द्वार पर आता है उसे सहर्ष दान देता है।

इतिहास प्रसिद्ध सम्राट कुमार पाल ने भी असहायो के भोजन व वस्त्र के निमित्तदान शाला की स्थापना की थी। जैन श्रावक भामाशाह, जगडूशाह, और खेमादेरानी के दानवीरता के उदाहरण आज भी हमारे मन मे नव उत्साह सचार करते हैं। श्रावक का मन कोमल व उदार होता है। उसके द्वार तुगिया नगरी के श्रमणोपासको की तरह सदा खुले ही रहते है।"[1]

आज की स्थिति कुछ विपरीत प्रतीत होती है। खाद्य सामग्रियो से भडार भरे पडे है, किन्तु किसी क्षुधातुर की भूख मिटाने मे उसका कोई उपयोग नही होता। कपडो के सन्दूक भरे पडे हैं, वस्त्र सड-गल रहे हैं, फिर भी नये लेने की लालसा बनी हुई है। किसी को दिया नही जा सकता। आज का मानव धन सग्रह मे ही जीवन की सफलता समझ रहा है। लक्ष्मीपति आज लक्ष्मी के दास बन रहे हैं। सचमुच हमारी यह कितनी विडम्बना है किन्तु याद रखिये—

'खाया सो तो सो चत्या, दिया सो चलिया सत्थ,
जसवन्त धरण पोटावता, माल बिराणे हत्थ।

मम्मण श्रेष्ठी की तरह कई आदमी न तो धन का स्वय उपभोग करते और न दूसरो को दे ही पाते हैं।

इस विषय मे एक कवि की उक्ति कितनी सुन्दर है—

इस प्रसग मे महात्मा ईसा का कथन वस्तुत कितना मननीय एव आचरणीय है—

"तुम्हारे बाये हाथ को भी यह ज्ञान न होना चाहिये कि तुम्हारे दाए हाथ ने क्या दिया है ?"[1]

कई मानवो की प्रवृत्ति होती है कि वे साधन सम्पन्न व्यक्तियो को दान देते है, ऐसे व्यक्तियो को बोध देते हुए श्री कृष्ण ने कहा—

'हे कुन्ती पुत्र ! दरिद्रो का भरण कर, ऐश्वर्ययुक्त मानवो को धन मत दे। जिसे बीमारी है उसी के लिये दवा पथ्य है नीरोग व्यक्ति को औषधि से क्या ?'

"हे पाण्डुपुत्र ! जैसे मरुभूमि मे वृष्टि और भूखे को भोजन सार्थक होता है, वैसे ही निर्धनो को धन देना सफल होता है।"[2]

'दीर्घ निकाय' मे इसी विषय पर निम्न भाव व्यक्त किए हैं—

"निर्धनो को धन नही देने से, दरिद्रता बहुत बढती है, और दरिद्रता की वृद्धि मे चोरी का विस्तार होता है।[3]

"भूखा व्यक्ति क्या क्या पाप नही करता है ?'[4]

दान देते समय यह देखने की आवश्यकता नहीं है कि दिया जाने वाला पदार्थ स्वादिष्ट सरस, बहुमूल्य एव पौष्टिक है या नहीं, किन्तु अपनी भावना प्रशस्त है या नहीं, इसे देखने की महती आवश्यकता है। क्योंकि लोकोक्ति प्रसिद्ध है—

"भाव विना क्रिया सव फीकी।"

चन्दनवाला ने प्रभु महावीर को क्या दिया था अर्थात् कहना होगा कि कुछ नही। क्योकि सूखे उडद के वाकुले एक भिखमगा भी सहज मे नही चाहता पर वही पदार्थ चन्दना ने प्रभु को देकर गिरते हुए कल्प वृक्ष को सुरक्षित रख लिया एव ससार को भी सीमित कर लिया। चन्दना के इस भाव भरे उडद के वाकुलो पर ससार के कोटि कोटि वहुमूल्य हीरे पन्ने न्यौछावर किए जा सकते हैं।

वौद्ध धर्म ग्रन्थ दीर्घ निकाय मे कहा है—

"सत्कार पूर्वक दान दो, अपने हाथ से दान दो, मन से दान दो, ठीक तरह से दोषरहित दान दो।"[1]

'सयुक्त निकाय' मे भी वतलाया है—

मात्सर्य और प्रमाद से दान नही देना चाहिये।"[2]

आज लाखो करोडो का धन देने वाले उपलब्ध होगे किन्तु सच्चा दानी वही है जो अपनी आवश्यकता व इच्छा को काट कर देता है। इसीलिये महाभारत का निम्न प्रसिद्ध कथानक द्रष्टव्य है।

युधिष्ठिर की राजसभा मे उनके राजसूय यज्ञ की प्रशसा के पुल वाधे जा रहे थे।

ठीक उसी समय वही पर प्रकट होकर एक नेवले ने मनुष्य वाणी मे वोलना प्रारम्भ किया—

आज कहा है, यज्ञ करने वाले सच्चे दानी। जिसकी कि आप लोग प्रशसा कर रहे हैं। वास्तव मे सच्चादानी तो वह ब्राह्मण परिवार है जिससे कि उछवृत्ति से उपार्जित भोजन को किसी अपने से अत्यधिक भूखे को समर्पित कर अपने आपको धन्य-धन्य कृतकृत्य वनाया था।

५—सच्च दान देय, सहत्था दान देथ।
 चित्तीकन्त दान देथ, अनपविद्द दान देय। (२।१०।५)

२—मच्छेरा च पमादा च, एव दान नदीयति। (१।१।३२)

जैन धर्म मे दया की तरह सुपात्र दान की भी अत्यधिक महिमा गाई गई है। जैन दर्शन की तरह वैदिक एव बौद्ध दर्शन मे भी दान धर्म और पात्रदान का महत्त्व प्रतिपादित किया गया है।

हिरात का शेख अब्दुल्ला असार अपने शिष्यो से कहा करता था कि—'अनन्त आकाश मे उडना कोई बहुत बडी क्रान्ति नही है, क्योकि वहाँ तो गन्दी से गन्दी मक्खिया भी उड सकती हैं। पुलिया या नौके के द्वारा नदियो को पार कर लेना भी कोई महान् चमत्कार नही है क्योकि एक कुत्ता भी ऐसा कर सकता है, किन्तु दु खी आत्मा को सहायता देना बहुत बडा चमत्कार है जो पवित्र आत्मा ही किया करते है।"

जो व्यक्ति अपने जीवन मे धर्माचरण चाहता है उसे सर्वप्रथम दान वृत्ति अपनाना चाहिये। दान और शील ही गृहस्थ धर्म के प्रमुख अग हैं।

किसी कवि ने ठीक ही कहा है—

"हाथ की शोभा दान से है, कचन से नही।"[1]

अन्त मे धम्मपद के शब्दो मे—

"धर्म का दान सब दानो से बढकर है।"[2]

१—दानेन पाणिर्न तु कङ्कणेन।

२—सब्बदान धम्म-दान जिनाति।

छठा दिवस

संयम दिवस

"मर्यादित जीवन ही वास्तविक जीवन है। आत्म नियन्त्रण सबसे बडी विजय है। हम अपनी इन्द्रियो के स्वामी बने न कि दास। तन, मन, वाणी एव आत्मा को सयमित रखने की प्रेरणा लिए पर्युषण का यह छट्ठा दिवस हमारे सामने उपस्थित है। जीवन मे सयम भाव को अपनाए, यही आज के दिन की साधना है।"

६ | संयम

भारतीय सस्कृति का निर्माण जिस अहिंसा, सत्य, शौच आदि तत्त्वो से हुआ है, उन तत्त्वो की एक शृंखला की कडी की एक लडी सयम भी है। अगर जीवन मे संयम नही तो हमारी सस्कृति अपूर्ण मानी जायगी। इसीलिए तो भारतीय ऋषियो का कलकण्ठ फूट पडा—

"सयम खलु जीवनम्"

वास्तव मे सयम ही जीवन है और असयम मृत्यु।

पृथ्वी स्वभाव से ही स्थिर है। उसका एक पर्याय अचला इस ओर स्पष्ट इंगित करता है कि एक मिनट के लिए भी यदि वह अपने स्वभाव से विचलित हो जाय तो ससार मे भयकर प्रलय मच सकता है, भूकम्प पैदा हो सकता है, जन धन की वडी क्षति उत्पन्न हो सकती है, वने वनाये सुन्दर सौध धराशायी हो जाते है। अतः उसका मर्यादा मे रहना ही ठीक है।

नदी जब दो किनारो मे मर्यादित होकर वहती है तव उसके किनारो पर ही हरी भरी फसले रहती है। जन-जन का जीवन वनाती है किन्तु वही जव मर्यादा तोडकर उफनती है तो स्वय गन्दिली वन जाती है और वाढ की चपेट मे अपार जन धन की हानि कर वरदान की जगह अभिशाप वन जाती है।

वह अग्नि जो हमारे भोजन म सहायक है, शीत हरने वाली है मर्यादा छोडने पर अपना सर्वभक्षी नाम भी चरितार्थ कर जाती है।

हवा जब मर्यादा से बाहर निकल जाती है तो भयकर तूफान खडा कर देती है। हजारो वर्ष के प्राचीन पेड उखड-उखड कर भूमिसात् हो जाते हैं। महल दब जाते है और छप्पर के छप्पर आसमान मे उड जाते है।

इस प्रकार पृथ्वी, जल, अग्नि और हवा जैसे पदार्थ भी मर्यादा का अतिक्रमण करने पर प्रलयकर हो सकते हैं तो प्रज्ञाबलधारी मानव मर्यादा से अलग-अलग होकर क्यो नही सर्वनाश को आमन्त्रित करेगा।

कार (मर्यादा) को लाघकर सीता महासती ने भी अपने आपको बन्धन मे डाल दिया था।

'उत्तराध्यन सूत्र' के ३२ वे अध्ययन मे असयम जीवन के अनिष्ट फल विभिन्न उदाहरणो से सम्यक् प्रकार से समझाये गये हैं।

"दूब के कोमल अकुरो को खाकर पुष्ट तन वाला हिरण कानन मे अपनी हरिणियो के सग विलास युक्त क्रीडा करता हुआ सुमधुर सुरीले स्वर मे उन्मत्त बन उधर आकृष्ट हो जाता है। स्रोतेन्द्रिय के इस असयम की परिणति व्याध के बाण द्वारा असमय दुखद मृत्यु के रूप मे होती है।"[1]

रूप का लोभी पतगा अग्नि के चमकीले जाज्वल्यमान दृश्य को देख अपने आपको भूल जाता है। बस फिर क्या ? वह वह्नि शिखा मे अपने आपको स्वाहा कर देता है और तडफ तडफ कर अपनी प्राण लीला समाप्त कर देता है, यह कटु फल है चक्षुरिन्द्रिय के असयम का।

१—दूर्वाङ्कुराशन समृद्ध वपु ने कुरग.
क्रीडन् वनेषु हरिणीभिरसौ विलासैः
अत्यन्त गेय ध्व दत्तमना वराक
श्रोत्रेन्द्रियेण समवर्ति सुख प्रयाति ॥

जो सर्प गुलाब, केतकी चमेली आदि सुगन्धित पदार्थों की सौरभ मे आसक्त बन जाता है वह पत्थरो एव लाठियो से पीटा जाता है और बुरी तरह से उसे अपना प्राणान्त करना पडता है। घ्राणेन्द्रिय को वश मे नही रखने से ऐसा ही दुष्परिणाम होता है।

सिर्फ जिह्वा पर सम्वरण नही रखने वाला मत्स्य एक मास खण्ड मे मुग्ध बन तीक्ष्ण शस्त्रास्त्रो से विंधा जाता है फिर चूल्हे पर चढा पकाया जाता है एव स्वादप्रिय लोगो द्वारा धीरे-धीरे खाया जाता है।

विशालकाय हस्ती जब स्पर्शेन्द्रिय पर अकुश नही रख सकता है, तो उसे भी बन्धन मे पडने की स्थिति उपस्थित हो जाती है। वह हथिनी पर आसक्त हो विषम गर्त मे गिर जाता है। मजबूत साकलो से बाधा जाता है और उसकी आजादी स्पर्शेन्द्रिय के असयम से समाप्त हो जाती है।

इस तरह जब एक एक इन्द्रिय का असयम भी दुखदायी होता है और देहधारी को भयकर सकट मे गिरा सकता है, तब भला पाचो इन्द्रियो के प्रति अमर्यादित चलने वाले व्यक्ति का तो कहना ही क्या ? उसे तो किन किन भीषण कष्टो का सामना नही करना होगा, हम नही कह सकते, किन्तु असयम कटु फल तो प्राणी को हर हालत मे भोगना ही होगा।

"दाह की पीडा को नही जानते हुए शलभ दीपक के मुख मे प्रवेश करता है और मछली भी काटा युक्त आटे को अज्ञात अवस्था मे ही खाती है। मगर हम सब विपत्तिकारी जटिल जाल को जानते पहचानते हुए भी काम क्रोधादि विकारो को नही त्यागते है। हाय! कर्म गति बडी विचित्र है।" ?

अत निम्नलिखित दृष्टान्त से हमे सयमी बनने की शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए।

एक जापानी भक्त से महात्मा गाधी को तीन बन्दरो के खिलौने प्राप्त हुए।

एक ने अपने नेत्रो को, दूसरे ने अपने कानो को तथा तीसरे ने अपने मुह को हाथ से बद कर रखा था।

प्रदर्शनी मे उस खिलौने को देख लोगो ने साश्चर्य पूछा—

"यह क्या है? इन्होने मुख आख, और कान को क्यो वन्द कर रक्खा है"

रहस्य प्रकट करते हुए महात्माजी ने उन लोगो को समझाया—"मुँह से कभी भी गन्दे शब्द न बोलना, कानो से अश्लील शब्द नही सुनना तथा नेत्रो से कामोत्तेजक रूप नही देखना। हमे इस चित्र से यही सत् शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए—

सयम शब्द की परिभाषा करते हुए आचार्यों ने हमे बताया है—

मर्यादा पूर्वक इन्द्रियो का निग्रह करना सयम है।"[1]

सयम के विना हमारी सब साधना अधूरी है। यह सयम मुख्यतया तीन विभागो मे विभिक्त है—मन सयम, वाणी सयम और काया सयम।

१ मन सयम—

जैसे इन्द्रिय सयम आवश्यक है उससे भी कई गुणा अत्यधिक मन संयम है। कहा गया है—

"इन्द्रियेभ्य पर मन।"

अर्थात् मन की चचलता इन्द्रियो की चचलता से बढकर है। इस विषय मे एक गुजराती कवि ने बहुत सुन्दर विचार हमारे समक्ष उपस्थित किए है—

१—स मर्यादया नियन्त्रण सयमः

अजब छे वेग आ मन नो, गजब छे शक्ति पण भारी।
घणा ज्ञानी अने ध्यानी, गया मन शत्रु थी हारी ।।

अद्वितीय धनुर्धर अर्जुन ने एक बार गीताकार श्री कृष्ण के समक्ष कहा था—

'हे कृष्ण! वलवानो को भी पयभूत करने वाला यह मन वहुत चचल है। उसका निग्रह मै उतना ही कठिन मानता हूँ, जितना कि वायु को एक थैले मे वन्द कर रखना।'[1]

सस्कृत के 'मनस्' शब्द को नपु सक लिग माना गया है। उसी प्रसग पर दृष्टि रखते हुए महान् सत आनन्द घन जी ने सतरहवे तीर्थंकर भगवान् कुन्थुनाथ स्वामी की स्तुति करते हुए वहुत सरस चित्रण किया है—

'मैने समझा था कि यह मन नपु सक लिग है, निर्वल है, वुजदिल है किन्तु आज चितन करता हूँ, तो प्रतीत होता है कि इस मन ने तो ससार की सम्पूर्ण शक्तियो को पीछे धकेल दिया है। सव कार्य करना सरल है किन्तु मन पर विजय मिला लेना अत्यन्त कठिन है।"[2]

तभी तो भारतीय ऋषि-महर्षियो ने स्थान स्थान पर साधक को मनोविजय का उपदेश दिया है।

मनोविजय करने के लिए तरह-तरह के तरीके अपनाये गये हैं। हठयोग आया, प्राणायाम करने की साधना चली, फिर मन को मूर्च्छित करने की युक्ति, किन्तु ये सव तरीके वेकार गये। मन मिले और चिन्तन न हो, ऐसा कभी नही हो सकता।

कोई यह चाहे कि हमे घोडा मिले तो अच्छा, किन्तु वह चंचल प्रकृति का नही होना चाहिए। वताइए क्या कभी ऐसा सभव है ? नही। अगर आप ऐसा ही चाहते है तो उत्तर स्पष्ट है कि आपको असली घोडा नही, वल्कि नकली घोडा या शीतला का घोडा चाहिए। वास्तव मे अगर सजीव और अच्छो नस्ल का घोडा है तो उसमे अवश्य ही चचलता होगी। इसी प्रकार जिसे मन मिला है तो वह अवश्य ही कुछ न कुछ चिन्तन करेगा। चिन्तन के अभाव मे मन की कल्पना भी नही की जा सकती है।

मन किसे मिलता है ? क्या कभी एकेन्द्रिय जीवो के भी मन की प्राप्ति हो सकती है। नही, कभी नही। मन की प्राप्ति अनन्त पुण्योदय से सज्ञी पचेन्द्रिय को ही प्राप्त होती है। अन्य प्राणी तो मन रहित ही होते हैं। तव भला महान् पुण्योदय से मिले इस पवित्र मन को मारने की वात क्यो ?

लोग कहा करते हैं, क्या करे, हमारा मन ही नही लगता। किन्तु यह स्थिति भी ठीक नही है। आपका मन खेलकूद मे लगता है, नाच गान मे लगता है, हास्य-विनोद मे लगता है और कनक कान्ता के सग क्रीडा करने मे लगता है, तव भला इस मन को कही स्थिर करना तथा एकाग्र वनाना जितना कठिन नही है, उससे अत्यधिक कठिन उसे साधना है। अत जैन-दर्शन का यह आघोप है कि मन को मारने की नही, वल्कि साधने की कला सीखनी है। किसी कवि ने ठीक ही कहा है—

"एक साधक साधना के क्षेत्र मे उतर कर केशो का लोच करता है किन्तु जब तक राग-द्वेष से पूरित मन का मुडन नही किया जायेगा तव तक यह केश मुडन निरर्थक ही सिद्ध होगा। उसे मुडने से कोई विशेष लाभ नही।"[1]

१—केशन कहा विगरिया जो मुडे सौ वार।
मन को क्यो नही मुडिये जामे विषय विकार ॥

यो तो विचारी 'गडरिया' भी साल भर मे दो वार मुडी जाती है किन्तु मुखी नही वनती। विषय-विकारो से ग्रसित मन को मुडित करने से ही यथार्थ सुख की प्राप्ति हो सकती है। इस प्रसग पर सत कवीरदास जी ने ठीक ही कहा है—

"कवीरा उसको मारिए, जिस मारे सुख होय।
भला-भला सव जग कहे, वुरा न माने कोय॥

भाषा एव तन के द्वारा जितना पाप नही किया जाता उससे वढकर मन के द्वारा पाप सभव है।

तन्दुल मत्स्य ने मन के असयम से सातवी नरक की आयु का वन्ध कर दिया तो भरत चक्रवर्ती ने मन के सयम से आरसी भवन मे ही केवल ज्ञान प्राप्त कर लिया था।

"कारण मन का सयम मोक्ष का तथा मन का असयम वन्ध का निमित्त होता है।"[1]

कहा भी है—

वोली एक अमोल है, वोल सके तो वोल।
हिय तराजू तोलिके, फिर मुख वाहर खोल ॥

और भी—

"चतुर नर वही है विश्व मे कार्य करता।
प्रथम हृदय मे जो सोचके वोलता है।
हतमति नर पीछे सोचता किन्तु पूर्व स्वमुख।
विना विचारे श्वान ज्यो खोलता है।"

वाणी एक अमूल्य चितामणि रत्न तुल्य है। उसका प्रयोग बहुत सावधानी पूर्वक करना चाहिए। पहले हृदय मे तोलना फिर वोलना चाहिए। विना विचारे अनर्गल भाषा के प्रयोग से महान् अनिष्ट की सभावना रहती है। सब घाव भरे जा सकते हैं किन्तु वाणी की चोट मानव को हमेशा-हमेशा के लिए कचोटती रहती है। यह घाव सदा हरा ही रहता है। किसी कवि की एक स्वर-लहरी देखिए—

"पाटा पीड उपाव, तन लगा तखारिया।
वहे जीभरा घाव, रतीन औषध राजिया।"

उर्दू के शायर की उक्ति भी कितनी समीचीन है—

"छुरी का तीर का तलवार का तो घाव भरा
किन्तु लवा जो जख्म जवा का, वह रहा हमेशा हरा।

वचन-वाण की चोट ला इलाज है। द्रौपदी के एक छोटे से वाक्य "अन्धो की सन्तान अन्धी होनी है।" ने महाभारत सदृश एक भयकर युद्ध करवा डाला था। अत अगर आपको वचन योग मिला है, "आप वोलना जानते हैं तो वहुत ही अच्छी सत्य और मधुर भाषा का प्रयोग करे, किन्तु मुँह से गालिया की

गोलिया चला-चला कर समक्ष खडे व्यक्ति का दिल चूर नही करें। क्योकि कटु वाक्य दूसरो के अन्त करण को चीर डालता है।"[1]

वाणी का सम्यक् प्रयोग यदि मानव को गौरव-गिरि के उत्तु ग शृ ग पर आरूढ कर सकता है तो उसका दुष्प्रयोग पतन के गहरे गर्त मे गिराने मे भी कारण भूत है। रसना के सयम से जहाँ पूजा की जाती है वहाँ उसके असयम से शिर मे जूती का प्रहार भी सहा जा सकता है। हिन्दी के सुख्यात नीतिकार रहीम के अनुभव पूरित निम्न विचार द्रष्टव्य हैं—

रहिमन जिह्वा बावरी, कह गई स्वर्ग पताल
आपु तो कह भीतर गई, जूती खात कपाल।"

वाणी की अनन्य महिमा सस्कृत साहित्य के निम्न श्लोक मे सुरक्षित है—

"पुरुष भुजबध, चन्द्र के समान उज्जवल हार, स्नान विलेपन, फूल माला और अलकृत केशो से वैसा शोभायमान नही होता जैसा कि सुसस्कृत वाणी से क्योकि ये सब आभूषण नष्ट होने वाले हैं। परन्तु वाणी कभी क्षीण नही होती।[2]

एक नीतिकार ने भी मधुर, वचन पर बल देते हुए कहा है—

१—बोल सकते हो अगर तो बोलली
तुम बडी प्यारी रीसीली बोलियाँ।
दिल किसी का चूर करते मत रहो
मुँह से चलाकर गालियो की गोलियाँ।"

२—केयूरा न विभूषयन्ति पुरुष, हारा न चन्द्रोज्ज्वला।
न स्नान न विलेपनं न कुसुम नालकृता मूर्धजा।
वाण्येका समल करोति पुरुष या सस्कृता धार्यते।
क्षीयन्ते खलु भूषणानि सतत वाग्भूषण भूषणम्।

"अधर मधुर वदन मधुर नयन मधुर हसित मधुर ।
हृदय मधुर गमन मधुर मधुराधिपतेरखिल मधुर ।
वचन मधुर चरित मधुर वसन मधुर वलित मधुर ।
चलित मधुर भ्रमित मधुर मधुराधिपते सरखिल मधुरम् ।।

इस सुन्दर श्लोक का तात्पर्य भी यही है कि हमारे वचन माधुर्य रस से आप्लावित हो ।

भाषा-सयम पर जैन आगमो मे अत्याधिक बल दिया गया है । वहाँ बताया है कि—

श्रावक जी मधुर बोले ।
कम बोले ।
कार्य होने पर बोले ।
कुशलता से बोले ।

उक्त सब बाते हमे भाषा-सयम की ओर ही सकेत करती है । जो जितना ज्यादा वचन पर अकु श रखेगा वह उतना ही अधिक लोक-प्रिय होगा ।

एक बार लोगो ने बासुरी से पूछा—

'तुम श्री कृष्ण की इतनी प्यारी कैसे बनी हो । वे जितना प्यार 'राधा' से भी नही करते उतना तुम से ।"

"मैं प्रारम्भ से लेकर अन्त तक सरल हूँ । बोलाने पर ही बोलती हूँ और जब कभी भी बोलती हूँ बहुत मीठा बोलती हूँ । अतः श्रीकृष्ण मुझ पर अत्यधिक प्रसन्न है ।' बासुरी का प्रत्युत्तर था ।

बासुरी का यह उत्तर ध्वनित करता है कि वास्तव मे कम बोलना अपना महत्त्व घटाना नही, बल्कि बढाना है । कई निढल्ले मानव व्यर्थ की अनर्गल बाते किया करते है । कोई उन्हे पूछते तक भी नही, फिर भी बकते रहते है । कवि ने कहा—

"तेल नही ताकला नही, काटती फिरे पूआ ।
गिने नही माने नही, हूँ लाडारी भूआ ।।

किन्तु इस प्रकार के व्यक्ति सर्वत्र अपमानित होते है रथ के पहिये की तरह जिन मानवो की भाषा बदलती रहती है जो अपने वचन पर स्थिर नही रहते वे नरत पाकर भी पशु की तरह अपनी जिन्दगी बसर करते है। कवि ने इस प्रसग को इस प्रकार स्पष्ट किया है—

"जो नर अपने मुख से वाणी बोल पुन हट जाते हैं,
नर तन पाकर पशु मे भी वे जीवन नीच बिताते है।
गाडी के चल चक्र जैसा, पुरुप वचन है आज हुए।
सुवह कहा कुछ, शाम कहा कुछ टोका तो नाराज हुए ॥

जिसकी वाणी पर अकु श नही, ऐसे मनुष्य से वार्तालाप करना भी अपनी पद-प्रतिष्ठा खोना है। कवि ने निषेधात्मक भाषा मे कहा—

कामोत्तेजक हो, क्रोधोत्पन्न करने वाला हो, भूलकर भी उसे स्वीकार न करे। क्योंकि नीति स्पष्ट कहती है कि—

"जैसा खावे अन्न, वैसा रहे मन।
जैसा पीवे पानी, वैसी रहे वाणी।।"

साधक के लिए हितकर, मित, प्रमाणयुक्त, भक्ष्य, सात्विक एव पवित्र भोजन ही ग्राह्य है।

किन्तु आज हम खान पान के सयम को प्रायः भूल सा गये हैं। अस्पतालो मे जाकर निरीक्षण करेगे तो हमे अत्यधिक मरीज जिह्वा के असयमी मिलेगे। आज का मानव भक्ष्याभक्ष्य तथा पेयापेय से कोई परहेज कुछ नही करता। वह अ डे खाने मे पाप नही मानता, शराब से घृणा नही करता, मास-मछली तो आज के अधिकाश मानव की दैनिक खुराक ही बनती जा रही है।

आज के मानव का पेट लेटर-बॉक्स बन गया है। सुबह से शाम तक मुँह की चक्की चलती ही रहती है। आहार विशुद्धता की कमी व अमर्यादित आहार सेवन व्याधियो के लिए खुला आमन्त्रण है। कारण खान पान की निरकुशता पेट को विकृत करती है। पेट की खराबी से—बुखार, जुखाम, सिरदर्द, पेट दर्द, गैस, चक्कर पित्त और कै आदि विभिन्न प्रकार के रोगो का आक्रमण तन को आक्रान्त कर लेता है। सत्य है कि भूखे रहकर जितने लोग बीमार नही होते उनसे ज्यादा खाकर। तन की विकृति धीरे-धीरे मन को भी विकृत बनाती है। अत आहार-शुद्धि हर दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

रसना के वशवर्ती साधु और श्रावक दोनो भोगियो की गणना मे गिने जा सकते हैं। कवि की भाषा मे—

"भोगी इन्द्री तीन है घनरस फरस बखान।
तीन मे रस इन्द्री अधिक, जीतन दुष्कर जान।
जीतन दुष्कर जान, कही श्री वीर जिनेश्वर।
रस इन्द्री के काज दु ख को सहत विविध पर।

"आत्मा का ही दमन करना चाहिए, क्योकि निश्चय से आत्मा दुर्दम्म यानि कठिनता से दमन करने योग्य है। जिसने आत्म निग्रह कर लिया वही जीव इस लोक और परलोक, उभय लोक मे सुखी होता है।"[1]

किन्तु आज हम प्राय आत्म स्वरूप को भूलते जा रहे है। हमे जड और चेतन की अलग अनुभूति होना ही कठिन हो रहा है। अतः भगवान महावीर ने अपने उपदेशामृत मे स्थान-स्थान पर कहा है—

"अपनी आत्मा को अच्छी तरह से जानो।"[2]

यूनान के प्रसिद्ध दार्शनिक अरस्तू ने भी बताया है कि—

"अपने आपको जानो"[3]

वेद और उपनिपदो का भी इस विषय से मिलता जुलता एक कथन है—

"आत्मा का ज्ञान करो।"[4]

सयमित आत्मा मित्र है और असयमित आत्मा शत्रु से भी बढकर हानिकारक है। अत इस विपय को स्पप्ट करते हुए सूत्रकार

मन से दूसरो की भलाई का चिन्तन करे। वाणी से भगवद् गुण स्तवन करे और तन से दीन-दु खी, गरीब रोगी की सेवा मे रत रहे यतना से काम करे। इस प्रकार करने से ये तीन योग उच्छृखलता पैदा नही करेगे और उद्दडता के अभाव मे अपना और जगत् का इष्ट साधन करने मे सफल सिद्ध होगे। अत इन योगो पर हमेशा नियन्त्रण रखना अत्यावश्यक है।

इन तीनो के पश्चात् आती है आत्म विजय। आत्म विजय ही वस्तुत सच्ची विजय है। आत्म विजय करने वाला व्यक्ति ही सच्चा विजेता कहलाता है। ससार भले ही रावण को विराट पुरुष मानता हो, कस की धमकियो को ही सब कुछ समझता हो, नेपोलियन को ही महान् पुरुष स्वीकार करता हो किन्तु हमारे यहाँ तो सच्चा महावीर वही कहलाता है जिसने आत्म विजय किया है। तलवारो से हजारो का खून बहाने वाला वीर नही है किन्तु सच्चा वीर आत्म विजेता है।

शास्त्रकारो ने स्पष्ट बताया है—

"सयम और तप के द्वारा आत्मा का दमन ही श्रेयस्कर है किन्तु कथ और कथनो के माध्यम से दूसरो के द्वारा निग्रह करावाया जाना अच्छा नही है।"[1]

इस विषय मे अग्रेजी के विद्वान का निम्न कथन भी द्रष्टव्य है—

"जो आत्म दमन नही करता, वह दूसरो के द्वारा वध और बन्धन आदि उपायो से दमन किया जाता है।"[2]

१—वरमे अप्पादन्तो, सजमेण तवेण य

माह परेहि दम्मतो, बधणेहि वहेहिव

(उ० अ० १ गा० १६)

२—The soul is in fact very difficult be subdued

दी सॉल इज इन फेक्ट वेरी डिफिकल्ट बी सब्डयूड।

"आत्मा का ही दमन करना चाहिए, क्योकि निश्चय से आत्मा दुर्दम्म यानि कठिनता से दमन करने योग्य है। जिसने आत्म निग्रह कर लिया वही जीव इस लोक और परलोक, उभय लोक मे सुखी होता है।"[1]

किन्तु आज हम प्राय आत्म स्वरूप को भूलते जा रहे है। हमे जड और चेतन की अलग अनुभूति होना ही कठिन हो रहा है। अतः भगवान महावीर ने अपने उपदेशामृत्त मे स्थान-स्थान पर कहा है—

"अपनी आत्मा को अच्छी तरह से जानो।"[2]

यूनान के प्रसिद्ध दार्शनिक अरस्तू ने भी बताया है कि—

"अपने आपको जानो"[3]

वेद और उपनिषदो का भी इस विषय से मिलता जुलता एक कथन है—

"आत्मा का ज्ञान करो।"[4]

सयमित आत्मा मित्र हैं और असयमित आत्मा शत्रु से भी बढकर हानिकारक है। अत इस विषय को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार ने बताया है—

"आत्मा मित्र है और आत्मा अमित्र भी।"[5]

सयम तो गाडी का ब्रेक है। जैसे ५० हजार रुपये की कार भी ब्रेक के अभाव मे व्यर्थ है, इसी प्रकार सयम बिना जीवन निरर्थक है।

१—अप्पा चेव दयेमव्वो, अप्पा हु खलु दुद्दमो।
अप्पादतो सुही होइ अस्सि लोए पस्थ य।
(उ० अ० १ गा० १५)

२—अप्पाण समभि जाणाहि

३—Know thou Self

४—आत्मान विद्धि

५—"अप्पा मित्तमामित्त च"

किन्तु भूपति अपने हठाग्रह पर दृढ था। तर्कों का प्रतिवाद करते निश्चिन्तता से एक आम्रफल खा ही लिया। वस्तुत. स्वाद-विजय एक अतिदुष्कर कार्य है।

इसका दुष्परिणाम यह रहा कि राजा को असमय मे ही मृत्यु का कवल होना पडा।

उत्तराध्ययन सूत्र' की टीका से प्राप्त यह दृष्टात हमे समझाता है कि "इन्द्रियो का असयम भयकर दुखद होता है।"

शक्ति मिलना तो सरल है, किन्तु संयम मिलना अति कठिन है।

'ज्ञाता धर्म कथाग सूत्र' के चतुर्थ अध्ययन मे वर्णित दो कूर्मो का दृष्टान्त हमे इसी सत्-शिक्षा की ओर प्रेरित करता है।

अनिग्रहीत जीवन मृत्यु के सदृश है, स्निग्धता रहित तिल समान है। प्राण रहित शरीर के तुल्य है। नासिका के अभाव मे मुँह के सदृश है और है पतवार विहीन नौका जैसा।

तो आए, हम भी अपने जीवन को प्रशस्त बनाने हेतु इन्द्रिय, मन तथा आत्मा का निग्रह कर अपने आपको कर्म बन्धनो से मुक्त कर सिद्धि के अधिकारी बने।

अत मे कवि के शब्दो मे—

'इन्द्रियो के घोडे न विषयो मे अडें,
जो अडे भी तो सयम के कोडे पडें

तन के रथ को सुपथ पर चलाते चले।
सिद्ध अर्हत मे मन रमाते चलें।

सातवां दिवस

आत्म शुद्धि दिवस

पर लगे हुए कर्म-मल को हटाने के लिये शुद्धि की महती आवश्यकता है।

साधक जब साधना के क्षेत्र मे प्रवेश करता है तब उससे भूल होना स्वाभाविक है। भूल एकान्त पतन का रास्ता नही है, और भूल से घबराकर हमे भागने की भी आवश्यकता नही है। भूल से भी हमे सुन्दर प्रेरणा लेनी चाहिये। नीति वाक्य भी हमारे समक्ष है—

"सुर्खरू होता है इंसा, ठोकरें खाने के बाद ॥
रग लाती है हीना, पत्थर पे घिस जाने के बाद ॥

मानव की हर भूल उसके लिये अभिशाप न होकर वरदान होती है अगर वह उससे कुछ सीख कर भविष्य मे उससे बचने का सकल्प लेता है तो भूल हो जाना कोई भयकर पाप नही है किन्तु भूल को छिपाना एवं उसे किसी गीतार्थ गुरु के समक्ष प्रकट न करना बहुत ही भयकर पाप है। जो साधक गलती को छिपाने की कोशिश करता है वह साधना के पवित्र क्षेत्र से कोसो दूर रहता है। प्राय. इस ससार मे तीन प्रकार के प्राणी दृष्टिगत होते हैं।

(१) सर्व प्रथम वे शुद्ध, बुद्ध, सर्वोच्च आत्माये है, जो सर्व गुण सम्पन्न होने से कभी पतित ही नही होते वे पुनीत श्रद्धेय आत्माएं हमारी वंदनीय है।

(२) दूसरी श्रेणी मे वे व्यक्ति आते हैं, जो गिर गये पर सभलने का कोई प्रयास नही करते। वे तो पाप पक मे डूबे रहते हैं, और उसी मे मस्त रहते है। ये प्राणी नगण्य हैं।

(३) और तीसरी कोटि मे वे व्यक्ति समाविष्ट होते हैं जिनके पाव उन्नति पथ से फिसल कर गहरे गर्त मे चले गये। पर क्या हुआ ? अपने उच्च स्वरूप को भूले नही। वे पतन से निराश नही होते हैं बल्कि द्विगुणित उत्साह व

उमग से सचेष्ट हो पुनः उच्चतर उन्नति के शिखर पर आरूढ होते हैं, ये ही व्यक्ति एक जीवन्त प्रेरणा श्रोत्र है ।

इसी प्रसग पर अ ग्रे जी के विद्वान दार्शनिक लाँगफेलो का निम्न कथन द्रष्टव्य है —

"पाप मे पडना मानव का स्वभाव है, उसमे डूबे रहना शैतान का स्वभाव है, उस पर दुखित होना सत का स्वभाव है और सब पापो से मुक्त होना ईश्वर का स्वभाव है ।[1]

कुशल साधक भी साधना से स्खलित होने पर वापिस ऊपर उठने की कोशिश करता है । इसी प्रयास का नाम प्रायश्चित या आलोचना है । साधक जीवन मे आलोचना का अनन्य महत्व है । प्रतिक्रमण की आराधना के पीछे यही सत् लक्ष्य है ।

एक वार भगवान गौतम ने विश्व वन्दित त्रिलोकीनाथ भगवान महावीर से प्रश्न किया ·—

"भगवन् ! आलोचना करने से जीव को कौनसा लाभ होता है ?

प्रत्युत्तर मे भगवान ने फरमाया ·—

"आलोचना करने से माया शल्य, निदान शल्य और मिथ्या दर्शन शल्य जो मोक्ष मार्ग के विघातक है तथा अनन्त ससार के बन्धन रूप है, सहज ही कट जाते हैं । यह प्रवृत्ति उसके भाव को प्रकट करती है । जिसका जीवन सरल होता है वह स्वभावत अमायी होता है, छल कपट के अभाव मे स्त्री वेद तथा नपू सक वेद का वध

१— Man-like it is to fall into sin,
Fiend-like it is to dwell therein,
Christ-like it is for sin to grieve,
God-like it is all to leave

नहीं होता। अगर पहिले का बन्ध हुआ है तो उसकी भी निर्जरा होती है।[1]

हमे अपना हृदय हमेशा निष्कपट एव छल रहित बनाना चाहिये क्यो कि शास्त्रकारो ने यह बताया है कि—"जिसका हृदय सरल होता है उसकी शुद्धि होती है और शुद्ध अन्त करण मे धर्म टिकता है"[2] कारण सरलता मे ही भगवान रहते है।

इसी प्रसंग पर हमे राजा भोज के द्वारा विक्रम के स्वर्ण सिंहासनारूढ होते पुतली का कथन स्मृति पर आ जाता है—

अरे भोज! अगर इस सिंहासन पर आरूढ होता है तो अपना हृदय इतना शुद्ध बनाओ जितना कि एक बच्चे का होता है। बच्चे का हृदय वास्तव मे सरल होता है। वे छल कपट से रहित, सत्य के देवदूत व अवधूत होते हैं। वे तो कह देते हैं कि बाबूजी ने कहलाया है कि बाबूजी बाहिर गये हैं।

"कालिमा से रहित शुद्ध श्वेत वस्त्र रग को ठीक से पकड लेता है इसी प्रकार शुद्ध हृदय व्यक्ति भी धर्मोपदेश को सम्यक् प्रकार से ग्रहण कर लेता है।"[3]

चना करना सीखे। राष्ट्र और समाज को सुधारने से पूर्व अपने आपको सुधारना अतीव आवश्यक है।

हम अपने पर्वताकार दोषो को देखते हुए भी नैत्र विहीन व्यक्ति की तरह बन चुके है, और दूसरो के राई सदृश दोषो को भी अतिशीघ्र तीक्ष्ण नेत्रो से देख लेते है। अत किसी विद्वान की वाणी झकृत हो उठी—

"दुष्ट मनुष्य दूसरो के सरसो के समान छिद्रो (दोषो) को तो देख लेता है परन्तु अपने बिलव के समान मोटे दोषो को देखता हुआ भी नही देखता है।"[१]

हम अन्तर मे अवलोकन करना भूल गये है। दूसरो की निदा करके बहुत समय व्यतीत कर देते है। हम दूसरो की छोटी छोटी सी गलतियो की तरफ भी दृष्टि डालते है। हमे डूगर जलती दिखती है, घर जलता नही—

अनुभवियो ने वडे पते की वात कही है अगर जीवन मे सफल होना है तो दो वातो से वचो और दो वाते अवश्य करो। करणीय दो वातें है—

१ आत्म-आलोचना २ और पर प्रशसा

दो निपिद्ध तत्व हैं—

१ स्व प्रशसा और २ पर निन्दा।।

एक वार सुई और छलनी के बीच सघर्ष छिडा। "तेरे सिर मे छेद है" तमक कर छलनी ने सुई से कहा। मधुर मन्दस्मित हास्य के साथ छलनी का प्रत्युत्तर था—'वहिन जरा अपनी ओर तो निहार, तुम्हारा तो पूरा पूरा वदन ही छिद्रो से परिपूर्ण है।"

छलनी क्या कहती? वह तो शर्म से मरी जा रही थी। कहना न होगा आज भी विश्व मे अधिकाश प्राणी छलनी की ही स्थिति मे है।

"अन्तर्मुखी वनकर हम अपनी ओर निहारे तो हमे प्रतीत होगा कि वास्तव मे अवगुण के पात्र हम ही है, दूसरे नही।'[१]

'जैसे ऊट फल फूलो मे मिठास एव सुगन्ध के होते हुए भी काटो से प्रीति रखता है, उसी प्रकार पर आलोचक दुष्ट गुणीजनो मे गुणो के रहने पर भी उनके दोषो को ही देखता है।[२]

जैसे कोयले खाने से काला मुह होता है वैसे ही दूसरो की निदा करने से जीवन अपवित्र एव काला होता है।

"जो मनुष्य प्रत्यक्ष मे स्तुति एव परोक्ष मे दूसरो की निदा

करता है, वह व्यक्ति कुत्ते की तरह दोनो लोक मे निंदा का पात्र बनता है।[1]

किन्तु आज हम सर्वत्र देखते है तो प्रतीत होता है कि "इस लोक मे कदम-कदम पर स्व-स्तुति और पर निन्दा करते हुए मानव देखे जाते है किन्तु स्व निंदा एव पर स्तुति करने वाले विरले ही दृष्टिगत होते है।[2]

निन्दक मे क्रोध होता है, ईर्ष्या होती है और प्रशसक मे गुणानुराग होता है। निन्दक अपने समय का दुरुपयोग करता है, और प्रशसक सदुपयोग। निन्दक मर कर नरक निगोद की दु खद खाई मे गिरता है तो प्रशसक स्वर्ग एव अपवर्ग (मोक्ष) के सुखो का आनन्दानुभव करता है।

"हम स्वय निन्दक नही बने, किन्तु हमे अपने आत्मोत्थान के लिये निन्दक को सदा अपने प्रागण मे कुटिया बनाकर भी रखना चाहिये, क्योकि वह साबुन और जल के बिना भी हमारे पाप कर्म को धो डालता है।[3] अत हमे दूसरो के सद्गुण ही देखने चाहिये।

भगवान नेमिनाथ के दर्शनार्थ जाते समय रास्ते मे एक मरी हुई एव दुर्गन्ध युक्त सडी हुई कुत्तिया को देख कर नाक मु ह सिको-डते हुए अपने सैनिक वर्ग एव कर्मचारी वर्ग को उपालम्भ देते हुए श्री कृष्ण ने समझाया —

१—प्रत्यक्षे गुण वादीय परोक्षे चापि निन्दक ॥
स मानव श्व वल्लोके, नष्ट लोके परावरा ॥

२—स्व स्तुति पर निन्दा वा, कर्ता लोक' पदे पदे ॥
पर स्तुति स्व निन्दा वा कर्ताकोऽपि न दृश्यते ॥

३—निन्दक नियरे राखिये, आगन कुटि छवाय ॥
बिन पानी साबुन बिना, निर्मल करे सुहाय ॥
—कवी

विगत जीवन जब गुजरा होगा तो ज्ञात अज्ञात भूले उनके समक्ष स्पष्ट होगई होगी। और इन्ही भूलो से घबराकर उन्होने किनारा करना उचित समझा होगा।

"हंस जिस प्रकार अपनी जिह्वा शक्ति के द्वारा जल मिश्रित दूध मे से जल को छोडकर दूध ग्रहण कर लेता है उसी प्रकार सुशिष्य दुर्गुणो को छोड कर सद्गुणो को ग्रहण करता है।"[1]

आत्मालोचना करने वाला व्यक्ति कर्म बन्धन से शीघ्र ही मुक्त हो जाता है। भगवान महावीर से एक बार गौतम ने प्रश्न किया—

हे भगवन ! आत्म निन्दा से जीव को क्या फल मिलता है।[2]

"आत्म निन्दा करने से पश्चाताप रूपी भट्टी मे जीव सम्पूर्ण दोषो को डालकर वैराग्य भाव को प्राप्त करता है और विरक्त जीव अपूर्व करण की श्रेणी प्राप्त करता हुआ क्षपक श्रेणी पर आरूढ होकर शीघ्र ही मोहनीय कर्म का नाश कर डालता है।[3]

आत्म निन्दा करने वाला महान् होता है, सरल होता है, और होता है नम्र। और दूसरो की निन्दा करने वाला चुगलखोर कहलाता है तथा उसकी गणना अधम व्यक्तियो मे होती है। नीति कहती है—

"जैसे पक्षियो मे कौआ, पशुओ मे श्रृगाल और मुनियो मे क्रोध अधम माना गया है, किन्तु परनिन्दक तो महा अधम माना जाता है।"[4]

१—अम्बतणेण जीहाई, कूइया होई खीर मुदग्मिम।
हसो मोत्तूण जलं, आवियइ पय तह सुसीसो। बृह० भ० ३४७

२—निन्दणयाएण भन्ते जीवे किं जणयइ ?

३—निन्दणयाएण पच्छाणुताव जणयइपच्छणुतावेण विरज्जमाणे करण गुण सेढि पडिवज्जइ करण गुण सेठि पडिवन्नेयण अणगारे मोहणिज्ज कम्म उग्घाएइ (उ० अ० २६ सू० ६)

४—पक्षिपु काकश्चाण्डाल. पशु चाण्डाल जम्बुक।
मुनिना कोपश्चाण्डाल सर्व चाण्डाल निन्दक ॥

एक बार राजा भोज ने अपने सभासदो से प्रश्न किया—

"सबसे तेज काटने वाला कौन है ?"

"सर्प ।"

"बिच्छू ।"

"मधुमक्षिका ।"

इस प्रकार विभिन्न तरह के उत्तर सभासदो से प्राप्त हुए पर कालिदास अभी तक चुप थे। राजा भोज ने कालीदास की तरफ दृष्टि करते हुए कहा—

"कविवर चुप क्यो ?"

कवि ने मौन भग कर वस्तुस्थिति स्पष्ट करते हुए कहा—

राजन् ! सबसे तेज काटने वाला तो निन्दक है जिसके दस से तन, मन, मस्तिष्क सब तिलमिलाने लगते है।

सभी ने स्वीकृति सूचक सिर हिला दिया।

हमे अपने अत करण पर लगे हुए पापो की आलोचना एक बच्चे के सदृश बनकर करनी चाहिए क्योकि शास्त्रकारो ने बताया है कि—

"छिपा हुआ पाप जगा रहता है, खलने पर वह अलग हट जाता है इस लिये छिपे पाप खोल दो आत्म-आलोचना के रूप मे प्रकट करदो फिर वह लगा नही रहेगा।"[1]

अपने समस्त दोषो को प्रकट करते समय हमारा अन्त करण एक बच्चे की तरह सरल निष्कपट चव निश्छल होना चाहिए जिस प्रकार माता पिता के समक्ष एक बच्चा सरलता से अपने मनोभावो को प्रकाशित करता है, ठीक इसी प्रकार एक आलोचक अपने द्वारा कृत अपराधो को गुरु के समक्ष प्रकट कर अपने आपको निर्मल बनाता है। जैसा क 'रत्नाकर पच्चीस' मे कहा है—

१—छन्नमति वस्सति विवनाति वस्सति ।
तस्माछन्न विवरेथ ,एव त नाति वस्सति (सुत्तपिटक उदान सू०)

"माता पिता के सामने वोली सुनाकर तोतली
करता नही क्या अज्ञ बालक, बाल्यवश लीलावली ।
अपने हृदय के हाल को वैसे यथोचित रीति से
मैं कह रही हूँ आपके आगे तपित हो प्रीति से ।।

आचार्य भद्रवाहु ने भी इस वात को इस ढग से कहा है--

"वालक जो भी उचित या अनुचित कार्य कर लेता है, वह सव सरल भाव से कह देता है । इसी प्रकार साधक को भी गुरुजनो के समक्ष दम्भ और अभिमान से रहित होकर यथार्थ आत्म-आलोचना करनी चाहिए ।"[1]

जिस प्रकार थोडा सा ऋरण भी आगे जाकर उग्र रूप धारण कर लेता है, जैसे छोटा सा घाव भयकर फोडे का रूप पकड लेता है, जिस प्रकार आग की छोटी सी चिनगारी वडे-बडे नगरो को जलाकर भस्मसात् कर देती है । थोडी सी कषाय भी भयंकर सघर्ष उत्पन्न करा सकती है । उसी प्रकार छोटी सी असावधानी जीवन की साधना को समाप्त कर देती है ।[2]

इन विचारो को सीमित रखने से ही शाति मिलती है इसी प्रकार दोषो के परिमार्जन से ही आत्म शाति उपलब्ध हो सकती है ।

"ऋण, घाव और कषाय मे थोडे हैं, ऐसा समझकर इनकी उपेक्षा करना जैसे खतरे से खाली नही है ठीक उसी प्रकार दोषो की उपेक्षा भी खतरे से परिपूर्ण है । ये अल्प होने पर भी विशेष खतरनाक है ।"[3]

१—किं बाल लीला कलितो न बाल पित्रो पुरो जल्पति निर्विकल्प ।
तथा यथार्थं कथयामि नाथ । निजाशय सानुशयस्तवाग्रे ।(रत्नाकर)

२—जह बालो जपन्तो कज्जमकज्ज व उज्जुय भणइ ।
त तह आलोएज्जा मायामय विप्पमुक्कोउ (ओघ निर्य० ८०१)

३—अण थोव, वण थोव, अग्गिथोव कषायथोव
ण हु भे वीससियव्व थोवपि हु ते बहु होइ (आ० नि० १२०)

अत छोटी सी गलती की भी शुद्धि तत्क्षण ही करना उपयुक्त है। एक पौराणिक प्रसग है—

एक वार कही जाती हुई द्रौपदी ने कर्ण के अनिन्ध सौन्दर्य को देख मन मे सकल्प किया—

"पाडवो के सग होते तो ये भी मेरे पति होते।"

विशिष्ट ज्ञानी श्री कृष्ण ने इस वात को जाना और द्रौपदी को उचित शिक्षा देने हेतु वोले—

"देखो इस वन के पेड पौधो को कोई न सतावे। किन्तु फलो से लदे हुए आम्र वृक्ष को देख भीम के मु ह मे पानी भर आया और उसने कृष्ण से आख चुराकर एक आम तोड ही लिया।

परन्तु, अतिशय ज्ञानी कृष्ण से यह रहस्य छिपा कैसे रह सकता था? उन्होने भीम को डाँटते हुए कहा—

तुमने वडा अनर्थ किया। मैंने तुम्हे स्पष्ट शब्दो मे रोक दिया था फिर तुमने कैसे इस फल को तोडा।" "अपराध मुक्ति की कौनसी प्रशस्त राह है, भीम का सविनय प्रश्न था।" "इस फल को पुन पेड से चिपका दो, कृष्ण का प्रत्युत्तर था।" "क्या ऐसा भी कभी हो मकता है?"

क्यो नही, अवश्य हो सकता है अगर तुमने कोई अपराध नही किया हो तो।" "मेरा अपराध तो समक्ष ही है नटवर। यह कार्य मेरे से सभव नही। आप धर्मराज आदि से करवाइये।"

धर्मराज की तरफ दृष्टि घुमाते हुए श्री कृष्ण ने कहा—"इस फल को पैड से चिपका दो।"

"दीर्घकालीन जीवन मे अगर मैंने किसी प्रकार का अपराध नही किया हो तो यह फल पुन वृक्ष पर चढ जाये धर्मराज का कथन था।

इतना सुनते ही फल पृथ्वी से कुछ ऊपर उठ गया। फिर क्रमश अर्जुन, नकुल, सहदेव आदि सबने ऐसा ही कहा। फल भी धीरे धीरे पृथ्वी से उठकर वृक्ष के सन्निकट जाकर रूक गया।

अब द्रौपदी की बारी थी। उसने भी यही कहा, किन्तु फल वृक्ष से चिपकना तो कोसो दूर रहा पुन पृथ्वी पर धडाम से आ गिरा।

यह क्या ? द्रौपदी तो स्तब्ध सी रह गई। आश्चर्यान्वित हो विचार-सागर मे गोते लगाने लगी।

"मैंने जीवन मे कौनसा ऐसा भयकर अपराध किया, जिससे यह फल पृथ्वी पर आ गिरा है।"

अन्तर अवलोकन के पश्चात् भी जब उसे अपना दोष दृष्टिगत नही हुआ तब भूल की ओर द्रौपदी के ध्यान को आकर्षित करते हुए श्री कृष्ण ने कहा—

'द्रौपदी ! कर्ण को देखकर क्या तुम्हारा विचार विकृत नही हुआ था। अगर हुआ हो तो उसका अविलम्ब शुद्धिकरण करना चाहिये।"

द्रौपदी ने स्वीकृति की मुद्रा मे सिर हिलाया और यथोचित विशुद्धि कर अपने पाप का परिहार किया।

यह कथा हमे प्रेरित करती है कि जीवन मे होने वाली छोटी-छोटी सी गल्तियो का भी अतिशीघ्र सुधार कर लेना चाहिये नही तो वे विशाल रूप धारण कर असाध्य बन जाती हैं।

'जिस प्रकार एक कुशल वैद्य भी अपने शरीरस्थ व्यक्ति को किसी दूसरे सुयोग्य वैद्य या डाक्टर को कह कर ही रोग मुक्त होता है, ठीक इसी प्रकार अपने पाप रोग को किसी सुयोग्य गुरु के समक्ष प्रकट कर अपने पाप रोग को समूल नष्ट करना चाहिये।"[1]

१—जह सुकुशलोवि विज्जो, अन्नस्स कहेइ अत्तणो वाही।
त तह आलोयव्व, सुठुवि ववहार कुसलेण॥

"जिस प्रकार एक भारवाही भार उतार कर हल्कापन अनुभव करता है इसी प्रकार गुरु-समक्ष आलोचना प्रतिक्रमण कर साधक भी हल्कापन अनुभव करता है।"[1]

"प्रायश्चित का मतलव ही यही होता है कि" जिससे पापो का छेदन हो।[2]

मनुष्य अपनी ही भूलो से ससार की विचित्र स्थिति मे फस जाता है, अगर हमसे कोई भूल हो जाय तो हमे चाहिये कि हम उसकी पुनरावृत्ति नही करे।

पापो का प्रक्षालन प्रायश्चित के गीले आसुओ से सहज ही हो जाता है।

आत्मालोचना के प्रसग मे महासती मृगावती जी का दृष्टान्त दृष्टव्य है—

सायकाल के समय अपने स्थान पर शिष्या को देरी से आती देख, गुरुणी जी ने रुष्ट हो उपालम्भ के स्वर मे कहा—

"सती मृगावती जी! यह आपने ठीक नही किया। यह कार्य हमारी श्रमणी सस्कृति के विरुद्ध है कि हम सूर्य डूवने के वाद तक श्रमणो के स्थान पर ठहर जाय। आप जैसी कुलीन गृहोत्पन्न सन्नारी भी अगर जिन शासन की मर्यादा का उल्लघन करेगी तो दूसरी साध्वियो से तो 'भूल न हो" इसकी अपेक्षा कैसे की जा सकती है। देखो ध्यान रखो, भविष्य मे इसकी पुनरावृत्ति न हो।

"तथास्तु" विनम्र शव्दो मे मृगावती जी ने अपनी भूल स्वीकार करते भविष्य मे गलतियो से वचने का नम्र विश्वास दिलाया।

१—उद्धरिम सव्वमल्लो, आलोइय निन्दि ओ गुरु सगामे।
होइ अतिरेग लुहओ ओहरिय भरोव्व भार वहो।

२—पाय छिनति यस्मात् प्रायश्चितमिति भण्यते तस्मात्॥
"वीय न न समायरे (द० ८।३१)

रात हुई पर मृगावती की आखो मे निद्रा नही। रह रह कर गुरुणीजी का उपालभ उनको कचोट रहा था। असावधानीवश हुई यह छोटी सी भूल भी उन्हे शूल की तरह चुभने लगी। उसकी यह निर्मलतम विचार धारा, यह मूक पश्चाताप, यह विशुद्ध आत्मालोचन अन्तत विशुद्धतम केवल ज्ञान मे परिवर्तित हो गया। अब वे सर्वज्ञ सर्वदर्शी थी।

उस प्रगाढ निविड, अन्धकार मे केवल ज्ञान के महाप्रकाश से गुरुणीजी के सन्निकट जाते हुए काले सर्प को देख, उन्होने उनका हाथ ऊपर उठाया।

रात्रि का सघन अन्धकार और अपने हाथ को अचानक ऊपर उठाते देख चन्दनबालाजी सहसा चौक पडी।

"अरी कौन ? किसने मेरे हाथ को ऊपर उठाया है।"

विनम्र शब्दो मे प्रत्युत्तर मिला—मैं हूँ गुरुणीजी मृगावती"

"मृगावती! इतनी रात्रि तक तुम क्या कर रही हो ? जागृत कैसे ? और मेरे हाथ को ऊपर कैसे उठाया।"

"एक भयकर काला नाग आपकी तरफ फुफकार करता आ रहा था।"

"इस घोर अन्धकार मे उसे कैसे देखा व जाना ?"

"आप ही की कृपा।"

"क्या कोई ज्ञान हुआ है तुम्हे ?"

"आपकी ही कृपा"

"प्रतिपाति ज्ञान है या अप्रतिपाति ?"

"आपके अनुग्रह से अप्रतिपाति है।"

"तो क्या, परम अवधि, विपुलमति, मनः पर्याय या केवल ?

"आपके वरद हस्त से मुझे आज केवल ज्ञान हुआ है।"

विस्मय विमुग्ध स्तम्भित चन्दनबाला को एव
लगा। वे सभली और दुख दर्द भरे शब्दो मे कहा—

"मैंने ज्ञानी, विनीता, गुणसपन्ना की आसातना
प्रकार प्रायश्चित्त की आग मे गुरुणी ने भी अपने समस्त
धो डाला। वे भी केवली बनी।

यहाँ कवि की यह वाणी कितनी खरी उतरती है-

"ज्यो सोना अग्नि मे तपकर
निर्मल है हो जाता।
त्यो तप की अग्नि मे सारा,
कर्म मैल धुल जाता।"

इस प्रकार यह सुस्पष्ट है आत्मशुद्धि विकास व
सुधार का राज मार्ग है। अत प्रत्येक साधक को इसका
लेकर अपना जीवन शुद्ध, स्वच्छ, रम्य और निरति
चाहिये। सस्कृत मे प्रतिदिन सोने के पहिले अपने दैनि
आलोचना करने का शुभ सदेश निम्न श्लोक मे
निखरा है—

"प्रत्यह प्रत्यवेक्षेत नरश्चरितमात्मन ॥
कि नुमेपशुभिस्तुल्य, कि नु सत्पुरुषैरिति ॥

प्रतिदिन मनुष्य अपने आपको देखने का प्रयास
आज दिन भर मे कौनसा कर्म पशु सदृश तथा कौनसा
पुरुष सदृश किया है।

तो अवश्य हम भी इस आत्म शुद्धि को प
निमज्जित हो अपने आपको धन्य, कृत-कृत्य बनाएँ।

आठवां दिवस

क्रोध विजय दिवस

"आत्मा के प्रबल दुश्मन ये कषाय ही है जो आत्म-गुणो का हनन कर रहे हैं। कषाय चतुष्क मे प्रथम एव प्रमुख है क्रोध/क्रोध को विद्वानो ने विष से उपमित किया है। यह विष मानव के भवो-भवो को नाश करने वाला है। इसकी प्रबलता के कारण ही आज समाज और राष्ट्र मे पग-पग पर अशान्ति व्याप्त है। इस क्रोध रिपु को क्षमा के अचूक अस्त्र से ही जीता जा सकता है। हमारे जीवन में शान्ति एव क्षमा, प्रीति एव उदारता की सुवास हो, यह सब कुछ समझते हुए पर्युषण पर्वाराधना आज अपनी अन्तिम छटा छोडती जा रही हैं।

८ क्रोध विजय

कषाय चतुष्क अर्थात् (क्रोध, मान, माया और लाभ) आत्मा का प्रवलतम अन्तरग शत्रु तथा भयकर अहितकर है। इससे आत्मार्थी साधक को हमेशा बचते रहना चाहिए।

यह कषाय चतुष्क ज्ञान, दर्शन चारित्र की प्रकाशमान ज्योति को क्षीण करने का प्रधान कारण और ससार परिभ्रमण का मुख्य हेतु है। इसीलिए श्रमण भगवान् महावीर ने प्रतिपादित किया है—

"अनियन्त्रित क्रोध और मान, बढता हुआ माया और लोभ ये चारो कषाय पुनर्जन्म रूपी विष वृक्ष की जडो को सीचने वाले है।"[1]

पाप की वृद्धि करने वाले है, कषाय चतुष्क। अतः आत्मा का हित चाहने वाला साधक इन दोषो का परित्याग कर दे।"[2]

कषाय शब्द की व्युत्पत्ति निम्न प्रकार है :—

कष = ससार। आय = लाभ। जिससे सासार परिभ्रमण का लाभ होता है उसे कषाय कहते हैं, यानी ससार मे भटकने का प्रमुख कारण कषाय है।

इस कषाय चतुष्क मे सबसे प्रमुख एवं प्रथम शत्रु है—क्रोध। क्रोध पर विजय कैसे प्राप्त हो? यही आज की चर्चा का विपय है।

१—कोहो य माणो य अणिग्गहीया, माया य लोभो य पवड्ढमाणा
चत्तारि एए कसिणा कसाया, सिंचन्ति मूलाइ पुणब्भवस्स
(द० अ० ८ गा० ४०)

१—कोह माण च मायं च, लोभ च पाववड्ढण ॥
वमे चत्तारि दोसे उ, इच्छन्तो हियमप्पणो ॥
(द० ८/३७)

ससार के महान् तत्त्व चिन्तको ने प्रश्न कि

"विस किं ?"

अर्थात विष क्या है ?"

तो उत्तर मिला—

"कोहो" अर्थात क्रोध ।

"जैसे काली कम्बल पर दूसरा रग नही चढ स
प्रकार क्रोधी मनुष्य पर भी क्षमा आदि सद् गुणो क
रग चढ नही सकता।"[1]

क्रोध एक प्रकार का विष है और यह तो स्पष्ट
बात है कि जहर खाने से आदमी मरता है उसी प्रकार क्रो
हमारे आत्मगुणो का घातक है ।

क्रोध एक प्रकार का बहुत भयकर विषधर है । क्रो
मदिरा पीये हुए व्यक्ति की अपेक्षा भी अधिक खतरनाक सि
है । क्रोध मानव को बे-भान बनाता है । क्रोध के आवेश
व्याकुल हो उठता है । क्रोध तन को तपाता है, मन को तप
रक्त को सुखाता है और आत्मा के भान को भुलाता है । नीति
कहती है कि—

"क्रोध से अभिभूत मानव सुख प्राप्त नही कर सकता।"[2]

जब क्रोध का तीव्र वेग होता है तब वह स्व-पर का ख्याल
भूल जाता है । इसीलिए तो शास्त्रकार ने कहा है—

'क्रोध प्रीति का नाश करता है ।"[3]

१—सूरदास खलकारी कामरी, चढे न दूजो रग ।

२—कोहाभिभूया ण सुहं लहन्ति ।।

३—कोहो पीइ पणासेइ ।

(द० अ० ८ गा० ३८)

जब इस भयंकर क्रोध शत्रु का अन्त करण मे उदय होता है, तब वह प्यारे से प्यारे आत्मीय सम्बन्धो को भी विस्मृत कर जाता है। उसके अन्तस्तल मे प्रवाहित सरस स्नेह का स्रोत सूख जाता है। पिता-पुत्र, भाई-भाई, माता-पुत्री, पति-पत्नी तथा गुरु-शिष्य जैसे मधुरतम घनिष्ठ सम्बन्ध भी क्षणभर मे विनष्ट हो जाते हैं। अपने पराये बन जाते है। सहज प्रेम विद्वेष मे परिवर्तित हो जाता है।

क्रोध के वेग मे मानव की बुद्धि कुण्ठित हो जाती है। वह आवेश मे आकर आत्म हत्या जैसे निकृष्ट कार्य के लिए भी तत्पर हो जाता है। क्रोध के वेग मे मानव मिट्टी का तेल छिड़क कर, विष खाकर, अग्नि मे जलकर और पर्वत से झम्पापात कर अपना घात कर लेता है, दूसरो की घात कर देता है। क्रोधी व्यक्ति जितना अनिष्ट करे उतना ही थोडा है।

क्रोध हृदय मे उत्पन्न होकर हमारे मन एवं आत्मा को मलीन तथा अपवित्र बनाता है।

क्रोध-हलाहल है। विष खाने से तो मानव एक बार मरता है किन्तु क्रोध से पुन: पुनः मरना पड़ता है।

'क्रोध एक प्रकार की भयंकर आग है जो सर्व प्रथम अपने को ही जलाती है। तत्पश्चात् दूसरो को जलावे अथवा नही भी जलावे।'

क्रोध ज्वालामुखी से भी भयंकर है। जब क्रोध का ज्वालामुखी फूट पड़ता है तो वह सर्वनाश का कारण बनता है। इसीलिए नीतिकारों ने क्रोध को हेय बतलाते हुए कहा है—

क्रोधी मनुष्य केवलि प्ररूपित धर्म शिक्षा का भी अधिकारी नहीं हो सकता है।

"क्रोध हमारे शरीर की आकृति बिगाड देता है। क्रोधी की आखे लाल हो जाती है। मुँह का वर्ण काला हो जाता है। ललाट मे त्रिवली हो आती है और हृदय एव भुजाएँ फडकने लगती हैं। इस प्रकार क्रोध हमारे आकार-प्रकार को वीभत्स बना देता है।"[1]

क्रोध।वेग मे हमारी प्रकृति आकृति की अपेक्षा भी अधिक भयकर हो जाती है। स्वभाव चिडचिडा बन जाता है। बिना विचारे अनर्गल जो भी मन मे आया, बकने लगता है।

"क्रोधी व्यक्ति आँखे बन्द कर देता है और मुँह खोल देता है।"[2]

क्रोध मे मर्म प्रकाशित करने वाली तथा कलह उत्पन्न करने वाली भाषाओ का प्रयोग कर दिया जाता है। क्रोध के भयकर आवेश मे समक्ष रहे हुए व्यक्ति पर डण्डे आदि का प्रहार भी कर दिया जाता है। परिणाम यह होता है कि ऐसा प्राणी अधोगति से छूट नहीं सकता। उसे मरकर नरक निगोद की भयकर दु खद खाई मे गिरना पडता है।

क्रोधी मानव ईर्ष्या आदि कई, दुर्गुणो से भीतर ही भीतर स्वय जलता रहता है और समक्ष रहे हुए व्यक्ति को भी दु खी करता है। क्रोधी को सर्वत्र अशान्ति ही मिलती है। इसीलिए किसी प्राचीन कवि ने कहा है—

क्रोधी कुड कुट कर मरे, जैसे अग्नि की झाल।"

१—क्रोधी महाचण्डाल, आन्धा कर दे रानी।
क्रोधी महाचण्डाल पत्थर धुनावे छाती।
क्रोधी महाचण्डाल थाली गिरे न कुण्डो।
क्रोधी महाचण्डाल जाय नरक मे ऊण्डो॥

२—An angry man shuts his eyes and opens his mouth

"क्रोध मे अन्धा बना हुआ व्यक्ति सत्य, शील और विनय का नाश कर देता है।"[1]

'अ गुत्तर निकाय' मे बुद्ध ने भी कहा है।[2]

"क्रोधी को ज्ञाति जन, मित्रजन और सुहृद्जन सभी छोड देते हैं।"

भयकर फोडे की तरह यह क्रोध पीडा उत्पन्न करने वाला है। क्रोध हमारे स्वास्थ्य को बिगाडने का काम करता है। अत्यन्त क्रोध से तन मे अनेको बीमारियाँ पैदा हो जाती हैं। क्रोधावेश मे माता अगर बच्चे को स्तन पान कराने लगे तो आज का विज्ञान भी यह बात सिद्ध करता है कि वह अमृत तुल्य दूध विप रूप मे परिवर्तित हो जाता है।

'अगुत्तर निकाय' का ही कथन है—

"क्रोधी कुरूप हो जाता है।"[3]

क्रोध हमारी सुन्दरता, सुकुमारता और सौम्यभाव को भी लूटता एव खसोटता है। देव दुर्लभ सौन्दर्य भी क्रोधावेश से पैशाचिक कुरूपता मे बदल जाता है।

कपाय अग्नि है। उसे शान्त करने के लिए श्रुतशील सदाचार और तप जल है।[4]

यही क्रोध घरेलू सघर्प का भी मुख्य कारण है। अत इसे अवश्य ही छोडना चाहिए।

क्रोधी मानव के पास लक्ष्मी भी स्थिर होकर नही रहती वह रूप्ट होकर भागने की कोशिश करती है।

१—कुद्धो सच्च सील विणय हणेज्जा (प्रश्न २।२)

२—जाति मित्ता सुहज्जा च परिवज्जन्ति को धन ॥७।६।११॥

३—कोधनो दुब्बणो होति ॥

४—कसाया अग्गीणो वुत्ता, सुयशील तवोजल। (२०/२३, ५३

इस विपय मे इन्द्र और लक्ष्मी के बीच घटित दृष्टान्त द्रष्टव्य है—

एक वार इन्द्र कही घूमने जा रहे थे। उन्हे रास्ते मे वैठी लक्ष्मी दिखाई दी। उससे पूछा—

"लक्ष्मी आजकल तुम कहाँ रहती हो ?"

रोप प्रकट करती हुई लक्ष्मी ने कहा—

"मैं ऐसी भटकू नही, जो इधर-उधर भकटती फिरू ? मैं तो सदा एक ही जगह पर निवास करती हूँ।

वहुत प्रसन्नता की वात है, वताओ तुम हमेशा कहा रहती हो। इन्द्र ने जिज्ञासा प्रकट की।

" गुरवो यत्र पूज्यन्ते, वाणी यत्र सुसस्कृता ॥

अदन्त-कलहो यत्र, तत्र शुक्र ! वसाम्यह।

जहाँ पूजनीय पुरुपो का सम्मान होता है, जहाँ सस्कारवती मधुरी वाणी का प्रयोग होता है और जहाँ आपसी वाक कलह नही होता। हे शक्र ! मैं हमेशा वही रहती हूँ।

इसलिए हिन्दी के एक नीतिकार ने कहा—

जहाँ सुमति तहाँ सम्पत्ति नाना।

जैनागमो मे क्रोध को ४ विभागो मे विभक्त किया है। [1]अनन्तानुवन्धी [2]अप्रत्याख्यानी, [3]प्रत्यख्यानी [4]सज्वलन।

प्रथम प्रकार का क्रोध पर्वत की दरार के समान नही मिटनें वाला जीवन पर्यन्त रहता है। उस क्रोध को करने वाला व्यक्ति सम्यक्त्व रूप सद्‌गुण का घात करता है और मरकर नरक गति का अधिकारी वनता है इसे अनन्तानुवन्धी कहा जाता है[1]

१—पत्वय राइममाण कोह् अणुपविट्ठे जीवे काल करेइ णेरइ ए मु उववज्जति (स्था ४।२)

दूसरे प्रकार का क्रोध एक वर्ष तक अपना स्थान जिस प्राणी के साथ बनाया रखता है, वह श्रावक व्रत प्राप्त नही कर सकता और उसे मर कर तिर्यंच आदि अशुभगति मे जाना होता है।

तीसरे प्रकार का क्रोध है प्रत्याख्यानी। वह अधिक से अधिक चार महीने तक अपना अस्तित्व प्राणी के साथ बनाया रखता है। वह साधुत्व को प्राप्त नही होने देता। इसकी गति मनुष्य की है।

चौथे प्रकार का क्रोध उत्कृष्ट १५ दिन रहता है यह यथाख्यात चारित्र के लिए बाधक है। इस क्रोध वाला देव गति का अधिकारी होता है। इस क्रोध को सज्वलन कहा है।

प्रथम प्रकार का क्रोध पर्वत मे रही हुई दरार की तरह होता है जैसे उसे पाटना असम्भव है ठीक उसी प्रकार उस क्रोधी को समझाना बहुत मुश्किल है।

द्वितीय प्रकार के क्रोध की उपमा तालाब मे पडी दरारो मे दी है। तालाब मे पडी दरारे वर्षा होने पर मिटती है उसी प्रकार सावत्सरिक आदि पुनीत पर्वो पर ही जिसका क्रोध उपशान्त होता है। जैन परिभाषा के अनुसार उस क्रोध को अप्रत्याख्यानी कहते हैं।

प्रत्याख्यानावरणीय क्रोध को बालू की दरार से उपमित किया है। पवन और मिट्टी की दरारो की अपेक्षा इसे पाटना कुछ सुगम है।

क्रोध शमन का एक मात्र उपाय है उपशम भाव। दूसरे शब्दो मे क्षमा भाव।

"क्रोध का निग्रह करने से मानसिक दाह शान्त होता है।[1]"

जिस प्रकार रक्त रजित वस्त्र का शुद्धिकरण रक्त से नही होता ठीक उसी प्रकार क्रोध का प्रतिकार क्रोध से नही, क्षमा से होता है।[1]

वैर से वैर वढता है, घटता नही।

सस्कृत के विद्वानो ने भी कहा है—

नाहि वैरेण वैर शाम्यति कदाचना।

नीति वाक्य भी है—

आवत गाली एक है, जावत होत अनेक।

जो गाली पलटे नही, तो रहे एक ही एक।

इस विषय मे महात्मा ईसा ने भी कहा है—

अपने शत्रुओ से प्यार करो, जो तुम्हे गलिया दे उन्हे आशीर्वाद दो।[2]

एक तरफ तो वह व्यक्ति है जो क्रोड पूर्व तक नानाविधतप कर्म स्वीकार कर विचरण करता है और दूसरी तरफ वह व्यक्ति है जिसके लिए एक समय भी भूखे रहना कठिन है किन्तु सामने वाले के द्वारा कही गई कडवी घू ट रूप वात को शान्ति से सहन कर लेता है। ज्ञानी जन इन दोनो की तुलना करते हुए क्षमा करने वाले के जीवन को अधिक प्रशस्त वतलाते हैं।

१—कोहमि उ निग्गाहिए, दाहस्सोवसमण हवइ तित्थ॥ (आ नि १०७४)

२—घृणा घृणा से वैर-वैर से कभी शान्त हो सकते क्या ?
कभी खून से सने वस्त्र को, खून ही से धो सकते क्या ?

३—Love your enimies

वास्तव मे उत्तम पुरुषो का क्रोध अल्प समय तक रहता है, मध्यम व्यक्तियो का क्रोध दो घडी तक, नीच जनो का क्रोध दिन रात तक किन्तु जो पापी मानव है उनका क्रोध तो जन्म पर्यंत रहता है।'[1]

क्रोध से पूर्णत छुटकारा नही भी प्राप्त कर सके तब भी कम से कम उत्तम पुरुष बनने की कोशिश तो अवश्य ही करनी चाहिए।

"क्षमा रूपी खड्ग जिस व्यक्ति के हाथ मे होती है शत्रुगण उसका कुछ भी बिगाड नही सकते।"[2]

क्षमा के आगे हजार-हजार क्रोधी पिघल जाते है। चण्डकौशिक जैसा भयकर दृष्टि विष सर्प भी भगवान महावीर की अनुपम क्षमा से शान्ति का पात्र बन गया।

पौराणिक प्रसग है कि :—परीक्षार्थ जब भृगु ब्राह्मण ने विष्णु की छाती मे जोरो से लात का प्रहार किया तो वे तिलमिलाये नही, अपितु उनके पैरो को दबाते हुए बडे मृदुल शब्दो मे बोले—

"मेरे कठोर वक्षस्थल से आपके सुकोमल चरणो को कही चोट तो नही पहुँची ?"

भृगु का क्रोध कपूर की तरह उड गया और वे विष्णु के क्षमा सहिष्णुता की मुक्त कठ से प्रशसा करने लगे।

हिन्दी के सुख्यात कवि के शब्दो मे—

"क्षमा बडन को होत है, छोटन को उत्पात।
कहा विष्णु को घटि गयो जो भृगुमारि लात।"

बौद्ध धर्म मे भी क्षमा के कुछ उदाहरण मिलते है उनमे से यहा दो सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं—

१—उत्तमस्य क्षण कोप, मध्यमस्य घटी द्वयम्।
अधमस्य स्यहोरात्र, पापाना मरणान्तक।

२—क्षमा खड्ग करे यस्य, दुर्जन कि करिष्यति।

शिष्य आनन्द जब अनार्य देश मे धर्म प्रचारार्थ जाने लगे, तब बुद्ध ने पूछा—

"वहाँ जब तुम्हे कोई गालिया देगा तब तुम क्या करोगे।"

"मैं उन पर बिलकुल क्रोध नही करूगा, मैं समझूगा कि इन्होने मुझे लाठियो से तो नही मारा।"

"अगर लाठियो से प्रहार किया जावेगा तो।"

"सोचूगा कि मुझे पत्थरो से तो नहीं मारा जा रहा है।"

"और यदि पत्थरो से प्रहार किया तो।"

"मैं समझूगा कि जान से तो मुझे समाप्त नही किया है।"

"अगर जीवन से भी अलग कर दिया तब।"

"तब विचार करूगा कि मैं अविनाशी हूँ और शरीर विनाशी है।" ये मेरा क्या बिगाड सकते हैं ?

बौद्ध साहित्य का यह सुख्यात कथानक हमे क्षमा का महत्त्व बताता है।

स्वय गौतम बुद्ध के जीवन की एक घटना इस प्रकार है—

किसी व्यक्ति ने बुद्ध को उत्तेजित करने हेतु गालिया दी। खूब प्रलाप किया। पर बुद्ध तो अपने ध्यान मे मस्त थे। जब गाली देने वाला बोलते-बोलते थक गया तब शान्त स्वर से बुद्ध ने उससे पूछा—

एक बात बताओ—तुम्हारे द्वारा किसी प्रकार का बहुमूल्य उपहार किसी को भेट किया जाय और वह व्यक्ति यदि उसे स्वीकार न करे तो वह पदार्थ किस का माना जायेगा ?"

"जिसका है उसीका रहेगा।" गालिया देने वाले का प्रत्युत्तर था।

तब महात्मा बुद्ध ने मुस्कराते हुए कहा :—

"तुम्हारे द्वारा भेट के लिए प्रदत्त गालियो का उपहार मैंने स्वीकार नही किया है।"

बुद्ध का विरोधी समझदार था।

कुछ देर पूर्व गालियां सुनाने वाला अब बुद्ध के चरणो मे विनत हो गया।

ईसाई धर्म ग्रन्थो मे भी क्षमा के सुन्दर उदाहरण मिलते हैं—

बर्बर एव युद्ध पिपासु लोगो मे प्रेम का अमृत सरसाने वाले ईसा शान्ति के देवदूत थे।

विरोधियो ने उनके सद्धर्म प्रचार से विक्षुप्त होकर उन्हे फाँसी पर चढा दिया। तब भी उनके होठो पर मुस्कान थी। वे स्नेह के सागर मे निमज्जित थे।

शूलि पर भी अपने कट्टर विरोधियो के प्रति भगवान से उनकी प्रार्थना थी—

"हे भगवान। इन्हे क्षमा करना।" ये अज्ञानी नही जानते कि वे क्या कर रहे हैं।"

अनुपम क्षमा का यह समुज्ज्वल उदाहरण किसे अनुप्रेरित नही करेगा?

महात्मा गाधी ने भी गोली मारने वाले नाथूराम गोडसे के साथ विद्वेष न करके उसे क्षमा कर दिया।

इस्लाम धर्म मे भी क्षमा के विषय मे एक सुन्दर कथानक आता है।

कार्यवशात् शहर मे जाते आते मुहम्मद साहब पर एक बुढिया हमेशा कूडा कचरा फेका करती व गन्दी गालियां भी दिया करती थी, क्योंकि उसे मोहम्मद साहब के धर्म सुधार से चिढ थी।

पर एक दिन जब मुहम्मद साहब उस गली मे से निकल रहे थे तो आज न तो कूडा कचरा ही फेका गया और न कानों मे गालिया ही सुनाई दी। तब उन्होने लोगो से पूछा—

"वुढिया कहा है ?"

"वुढिरा वीमार है ।" लोगो का प्रत्युत्तर था ।

वस यह सुनना था कि मुहम्मद साहव का अन्त करण सहज करुणा की भावना से द्रवित हो उठा । वे भीतर गये । वुढिया को सभाला और दवा पथ्य की व्यवस्था करवाई ।

वुढिया पर इस महान् क्षमावीर के जीवन का प्रभाव पडे विना न रहा । वह आजीवन के लिये मुहम्मद साहव की उपासिका वन गई ।

× × ×

'अरे इसने मेरे भाई की हत्या की है ।"

"उसने मेरे पिता के प्राण हरण किये हैं ।"

"यही मेरे पुत्र का घातक है ।"

"अरे इस दुष्ट ने मेरी माता का सहार किया है ।"

"यह वही पापी है, जिमने मेरे पति को समाप्त किया है ।"

इस तरह उन लोगो के द्वारा मुनि को विचित्र प्रकार की ताडना तर्जना दी जा रही है । गालियो और पत्थरो की वौछार हो रही हैं, किन्तु मुनि ममता की सरिता मे निमज्जित थे । कल के दुष्ट आज शिष्ट व मिष्ट वन चुके थे । वे विप मे अमृत मरसा रहे थे । उन्होने दिखा दिया कि—

"जे कम्मे सूरा ते धम्मे सूरा ।"

कर्म का वध हमते-हसते किया है तो इनका भुगतान रोते-रोने क्यो ? इस कर्म कर्ज को हमते-हमते चुकाना है ।

छ महिने मे कर्म वन्ध करने वाले पराक्रमी पुरुप ने छ ही महीने मे शान्ति और क्षमा से मुख पर विना किमी सलवट के अन्तःकरण के निर्मल भाव से कर्म शृंखला को तोडकर शिवत्व प्राप्त कर लिया ।

धन्य है वे महामुनि। जिनकी क्षमा, सहनशीलता अनुपम है। विश्व के इतिहास मे उनका नाम हमेशा-हमेशा के लिए चमकता रहेगा।

× × ×

ये मुनि और कोई नही अन्तकृत-दशाग सूत्र के स्वर्णिम पृष्ठो पर चमकने वाले क्षमा वीर महामुनि अर्जुन माली हैं।

× × ×

जिनके मस्तिष्क पर जाज्वल्यमान अगारे रख दिये गए फिर भी कोप का नाम नही गृहस्थाश्रम के श्वसुर पर कोई रोष नही। क्षमा के अथाह सरोवर मे डुबकी लगा रहे हैं। अन्तर्ध्यान मे लीन, क्षपक श्रेणी पर आरूढ और शुक्ल ध्यान की अन्तिम मजिल पर चढ केवल ज्ञान और केवल दर्शन क्षमा के माध्यम से प्राप्त करने वाले धन्य हैं, उन क्षमावी महामुनि गजसुकुमार को।

क्षमा से गृह सम्बन्धी, परिवार सम्बन्धी और समाज सबधी झगडे तत्काल शान्त हो जाते है।

वही घर सुखी होता है, जिस घर के सभी लोग आपसी वैर-विरोध को भूल कर अपने कृत अपराधो की क्षमा याचना कर प्रेम से रहते है। इसीलिए नीतिकारो ने कहा है—

"क्षमा से बढकर इस ससार से मुक्त कराने वाला कोई तप नही। क्षमा से बढ़कर कोई दूसरा धर्म नही। वीर पुरुषो का तो सच्चा आभूषण ही क्षमा है। एतदर्थ कहा गया है कि—

"क्षमा वीरस्य भूषणम्।"

अर्थात् जो शक्ति सम्पन्न होकर सहनशीलता रखता है, वास्तव मे वही सच्चा क्षमावीर है। क्षमा ही क्रोध रूप भयकर शत्रु का सहार करने लिए अमोघ शस्त्र है। कवि ने कहा है—

"क्षमा बराबर तप नही, क्षमा धर्म आधार।
ज्ञानी का भूषण क्षमा, क्रोध विनाशन हार।

एक क्षमा शील आत्मा, क्रोधी व्यक्ति को भी शान्त एवं प्रेमी का प्रतिरूप बनाने मे समर्थ होती है। एक दृष्टान्त द्रष्टव्य है।

जिस दिन एक श्रेष्ठी कन्या किसी सेठ की पुत्र वधू बनकर आई, ठीक उसी दिन उसके घर किसी झगडालू वुढ़िया के लडने की वारी थी।

सेठ घवरा उठा। सोचा गजव है, हम तो पहले ही इस झगडालू वुढिया से हैरान है। अगर यह नयी दुल्हिन भी इसे लडती देखकर झगडना सीख लेगी तो वहुत अनर्थ होगा।

इसी चिन्ता मे सेठ-सेठानी ने और घर अन्यान्य सदस्यो ने अडोस-पडोस वालो को भरसक समझाने का प्रयास किया कि आज की वारी आप ग्रहण करे और आपकी वारी पर हम निपट लेगे।

पर अफसोस ! किसी ने इस कडवी विष घूट को पीना स्वीकार नही किया। कौन ऐसा मूर्ख होगा जो जलती भेड को घर मे डाले।

किन्तु इस विलक्षण वधू को वहा की परिस्थिति समझने मे थोडी भी देरी नही लगी। तात्क्षण वुद्धि से घर वालो को आश्वस्त करती हुई वह वोली—

"लडना तो मुझे भी खूव आता है।" वहू विनम्र शब्दो मे अपनी सास से वोली—

सशकित स्वर से सास के अपनी वहू से कहा—

"खाओ, पीओ और मौज करो अभी, तुम्हारे लडने झगडने के दिन नही है वहूरानी !"

किन्तु वह सुशील वधू कव मानने वाली थी। उसने तो आग्रह करके खील (खाद्य) और ठण्डा पानी मगवा ही लिया।

आसन जमाकर उस वुढिया की प्रतीक्षा करने लगी।

कुछ समय पश्चात् गालिया वकती हुई यह वुढिया आई किन्तु सहनशीलता व क्षमा की अगाध पुतली ने एक भी शब्द का प्रत्युत्तर नही दिया। एक कार्य जरूर किया। वह था खील खाना, ठण्डा जल पीना और बुढिया को अगूठा दिखा देना।

इस अनिष्ट व्यवहार से तो उस वुढिया का पारा और तेज होता किन्तु वहू चुप थी।

आखिर लडाई का मजा अकेले से नही, वल्कि दो से आता है वुढिया हैरान थी। सायकाल किसी तरह थकी मादी घर पहुची।

दूसरे दिन पचो से कहा—

"आप कल जैसा घर मत वताना।"

आश्चर्य की मुद्रा मे पचो ने पूछा -

"कल कैसा घर था?"

वुढिया ने भी घटित घटना सुनाई।

"लडना हो तो अव हमेशा ऐसे ही घर मिलेगे।" पचो ने वुढिया से कहा। साथ ही पचो ने सम्पूर्ण नगर मे घोपरणा करवा दी कि—

जिस किसी भी घर मे वुढिया लडने को आवे, तव आप लोग मुँह से उफ तक भी नही निकालना। किन्तु खीले खाना, जल पीना और उस वुढिया को अगूठा दिखा देना।

अव तो वुढिया कल वाली वात कह कर अधिक परेशान थी। सोचा इस प्रकार लडने की अपेक्षा नही लडना कही अधिक अच्छा है।

'क्राव न करूँगी। अव आजीवन के लिए' उसका यह प्रण था। इस नियम से परिवार सुखी था, गाँव सुखी था और वह तो अत्यधिक सुखी थी।

वास्तव मे क्रोध-विजय से ही सच्चे सुख की उपलब्धि होती है। भगवान महावीर से गौतम ने पूछा भगवन्—क्रोध विजय करने से प्राणी को किस फल की प्राप्ति होती है।"

प्रभु ने फरमाया—

'हे गौतम! क्रोध विजय से क्षमा गुण की प्राप्ति होती है, क्रोधजन्य कर्मो का बन्ध नही होता है और पूर्वबद्ध कर्म क्षय हो जाते है।"[1]

'धम्म पद' की सूक्ति मे कहा है—

"क्षमा से क्रोध को जीते।"[2]

सन्त तुलसी दासजी ने भी कहा है—

"जब तक काम, क्रोध मद और लोभ की हृदय मे आग लगी हुई है तब तक पण्डित और मूर्ख मे कोई अन्तर नही है अर्थात् दोनो एक समान है।"[3]

यह अनुभव सिद्ध सत्य है कि क्षमा मे शान्ति है और क्रोध मे अशान्ति। अत हमारा परम् कर्तव्य है कि—

'हम क्षमा, शान्ति, सद्भाव और स्नेहमयी पवित्र गगा की निर्मल धारा मे गहरी डुबकी लगाकर आत्मा पर लगे हुए सम्पूर्ण पापो को धो डाले।"[4]

शास्त्रकारो ने स्पष्ट कहा है—

"क्षमा को परम धर्म समझ कर उसका आचरण करो।"[5]

१—कोह विजएण भन्ते ? जीवे कि जणयइ ? कोह विजएण खति जणयइ, कोह वेयणिज्ज कम्म न बन्धइ, पुव्वबद्ध च निज्जरेइ।

२ अक्कोधेन जिने कोध

३—काम क्रोध मद लोभ की, जब लो मन मे खान
तब लो पडित मूरखा, तुलसी एक समान।

४—क्षमा शांति सद्भाव स्नेह की, गगा की निर्मल धारा।
गहरी डुबकी लगा हृदय मे, धो डालो कलिमल सारा।

५—खतियग परम नच्चा, विहरे धम्म समायरे॥ सू० (१।८।२६।)

"क्षमा परम तप है।"[1]

"जो स्वय बलवान् होकर दुर्बल की बाते सहता है उसी को सर्वश्रेष्ठ क्षमा कहते हैं।"[2]

"वुड्ढी अचड भयए" बुद्धि अक्रोधी को ही भजती है और क्रोधी को अकीर्ति उपलब्ध होती है। अत किसी भी व्यक्ति के साथ वैर विरोध नही करना चाहिए।"[3]

प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य है कि यदि उससे भगवान के प्रति कोई अपराध हो गया हो और वह क्षमा मागने मे विलम्ब करे तो कोई आपत्ति की बात नही किन्तु मानव के साथ कोई अपराध हो गया तो अविलिम्वत क्षमा मागे। कारण, भगवान कभी मरता नही किन्तु आदमी मर जाता है।